शोध

अन्तर्गत

नैतिक चेतना एवं आचरण

मध्ययुगीन मानव-मूल्य और तुलसीदास

मध्ययुगीन संत्रास : सूर की भूमिका

औद्योगिक नगर तथा भारतीय नगरीकरण

भारतीय वाङ्मय में कर्मविपाक, भाग्यवाद और पुरुषार्थ

मनु की ऐतिहासिकता

आदि-आदि....

अनुशीलन

दीनदयाल शोध संस्थान की त्रैमासिक पत्रिका

वर्ष ३ अंक १ श्रावण विक्रमाब्द २०३७ (जुलाई १९८०)

सम्पादकीय परामर्श-परिषद्

डा० वी० एम० दाण्डेकर
डा० आर० आर० दिवाकर
डा० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी
डा० विश्वनाथप्रसाद वर्मा
डा० शिशिरकुमार घोष
श्री जैनेन्द्रकुमार
डा० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय
डा० आत्माराम
प्रो० खालिक अहमद निजामी
डा० दामोदरप्रसाद सिंहल
श्री दत्तोपन्त ठेंगड़ी
प्रो० के० आर० श्रीनिवास आयंगर
डा० एस० भगवन्तम

सम्पादक

श्री पी० परमेश्वरन — सम्पादक
डा० हरिश्चन्द्र बर्थ्वाल — संयुक्त सम्पादक

कार्यालय

दीनदयाल शोध संस्थान
७ ई. स्वामी रामतीर्थ नगर
नयी दिल्ली-११००५५

शुल्क

एक प्रति — रु० ५-००
वार्षिक :
भारत, पाकिस्तान, बंगला देश, श्रीलंका — रु० २०-००

एशिया, अफ्रीका एवं यूरोप
(वायु-मार्ग से) — £ ७-००

अमेरिका, कनाडा और द० अमेरिका
(वायु-मार्ग से) — $ १३.००

"राष्ट्र का जीवन एक दिन में अथवा दो-चार वर्षों में नहीं बना-बिगड़ा करता और न कोई महापुरुष ही राष्ट्र-जीवन के संस्कारों से पूर्णतः निलिप्त होकर अपनी मानसिक, आध्यात्मिक अथवा शारीरिक शक्तियों का विकास करके राष्ट्रजीवन का निर्माण कर सकता है। महापुरुष तो जातीय साधना के विग्रह (प्रतिमा) स्वरूप हैं। वे तो समाज में वर्षों से होने वाली विचार-क्रान्ति के दृष्ट फल होते हैं। उनकी अलौकिक शक्ति और ऐश्वर्य, सर्वतोमुखी प्रतिभा, अखण्ड कर्ममय जीवन तथा सर्वव्यापी प्रभाव को देखकर हमारी आँखें इतनी चौंधिया जाती हैं कि हम उस महापुरुष को उत्पन्न करने वाली जीवनधारा को बिल्कुल ही भूल जाते हैं। जिस समाज में वह उत्पन्न होता है, उसका कुछ विचार ही नहीं करते। ज्वालामुखी के विस्फोट को देखकर धीरे-धीरे रिसते हुए पानी की ओर ध्यान ही नहीं जाता। प्रस्फुटित पुष्प के सौरभ में वृक्ष का विस्मरण हो जाता है। शायद इस वृत्ति की ओट में हमारा व्यक्तिगत स्वार्थ ही छिपा हो, क्योंकि किसी महापुरुष को समाज को पूर्णतः बनाने-बिगाड़ने वाला मानकर स्वयं हम समाजकार्य के उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाते हैं। वास्तव में तो महापुरुष व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन को अनुप्राणित करते हुए कार्य की जो शक्ति और प्रेरणा देता है, वह स्वयं समाज के सामूहिक प्रयत्नों से पहले ही ग्रहण कर चुका होता है। जातीय प्राणों की इसी आभ्यन्तरिक जीवित साधना-धारा का स्वरूप भिन्न-भिन्न युगों में विशेष महापुरुषों की साधना और सिद्धि के द्वारा युगोचित आकार और वेषभूषा से सुसज्जित होकर प्रकट होता है। अतः, किसी भी महापुरुष को समझने से पूर्व जातीय जीवन की इस साधना के स्वरूप को समझना आवश्यक होगा।"

—दीनदयाल उपाध्याय

रता और न कोई महापुरुष ही राष्ट्र-
अथवा शारीरिक शक्तियों का विकास
के विग्रह (प्रतिमा) स्वरूप हैं। वे
उनकी अलौकिक शक्ति और ऐश्वर्य,
र हमारी आँखें इतनी चौंधिया जाती
ही भूल जाते हैं। जिस समाज मे वह
ट को देखकर धीरे-धीरे रिसते हुए
विस्मरण हो जाता है। शायद इस
हापुरुष को समाज को पूर्णतः बनाने-
ी जाते हैं। वास्तव में तो महापुरुष
प्रेरणा देता है, वह स्वयं समाज के
इसी आभ्यन्तरिक जीवित साधना-
सिद्धि के द्वारा युगोचित आकार और
मझने से पूर्व जातीय जीवन की इस

—दीनदयाल उपाध्याय

देखा देखी सधै न जोग

जीवन्त नवनिर्माण या नवजीवन के विकास के लिये अनुकूल तत्त्वों को ग्रहण करना आवश्यक है, किन्तु यह आत्मसात् करने की प्रक्रिया है, प्रतिरोपण की नहीं। किसी भी नवजात या विकासमान जीवन्त व्यक्तित्व को सामर्थ्यवान बनाने के लिये शिर, धड़, हाथ, पैर आदि में से कोई भी अंग पूर्ण विकसित अवस्था में बना-बनाया नहीं मिलता। अपवाद के रूप में कभी-कभार कोई आंगिक हीनता उत्पन्न हो जाने पर किसी प्रकार का प्रतिरोपण सफल भी हो जाये, तो भी वह यांत्रिक उपयोग वाले अंगों में ही सम्भव है, चेतना और विचार-तंत्र में नहीं। चेतना-केन्द्र (मस्तिष्क) में प्रतिरोपण सफल हो जाने पर तो मूल व्यक्तित्व ही नहीं रहेगा।

विचारधारा के विकास में सीखने का महत्व सुविदित है, किन्तु सीखने की भी स्वस्थ प्रक्रिया अन्तर्निहित सम्भावना को अधिकाधिक प्रकट होने की प्रेरणा देना तथा नये अनुभवों तक उसकी पहुंच बढ़ाना है। ज्ञान ज्योतिर्मान दीपक के समान है, जो स्वयं तो प्रकाशित होता ही है, अन्य वस्तुएँ भी उसके प्रकाश में देखी जा सकती हैं। नया अनुभव ऐसे ही आना चाहिए जैसे दीपक के प्रकाश की पहुंच में नयी वस्तु आ जाये; नयी वस्तु के घेरे में दीपक का प्रकाश सीमित नहीं हो जाना चाहिए। भारतीय परम्परा अनन्त ज्ञान की है, उसका प्रकाश बढ़ाने के लिये केवल मलावरण हटाने की आवश्यकता होती है।

कुछ विचारशील लोगों का यह मानना तो ठीक ही है कि समाज-जीवन की उन्नति के लिये किसी भी सम-कालीन नेता की तुलना में महात्मा गांधी ने अधिक प्रयोग किये थे। गांधी जी स्वभाव से प्रयोगधर्मी तो थे ही, उन्हें व्यापक प्रयोग करने और उनके परिणाम देखने के लिये दीर्घ जीवन भी मिला, अतः उनके अनुभवों एवं निष्कर्षों के भंडार में परवर्ती पीढ़ियों को देने के लिये बहुत है। फिर, महात्मा गांधी भारतीय मनीषा के अभिन्न अंग ही नहीं, उसकी एक विशिष्ट अभिव्यक्ति भी थे, अतः उनके सत्य के प्रयोगों से लाभ उठाना राष्ट्र-चिन्तकों का कर्तव्य भी है।

परन्तु, विचित्र स्थिति तब उत्पन्न होती है, जब लोग समग्र भारतीय जीवन-दर्शन से एकान्तिक भौतिकवाद की ओर बहते (या बहकते) हुए गांधीवाद की दुहाई

देते चलते हैं। आकर्षण पेरिस या न्यूयार्क की शैली के विलासपूर्ण जीवन का होता है और चर्चा गांधी जी के प्रयोगों की करते हैं। दर्शनविहीन जीवन या सिद्धान्त-विहीन प्रयोग की यह स्वाभाविक गति है। गांधी जी के प्रयोगों की बात करते समय हम यह कैसे भूल सकते हैं कि गांधी जी समूचे व्यावहारिक जीवन को आध्यात्मिक साधना का अभिन्न अंग बनाना चाहते थे। उनके प्रयोगों का केन्द्रीय तत्त्व अनासक्तियोग था, वैभव-विलास नहीं। उनकी प्रेरणा विशुद्ध आत्मिक थी, न कि स्थूल भौतिक। इस मूलभूत प्रेरक तत्त्व की उपेक्षा करके बहिर्मुखी भौतिक दृष्टि से गांधी जी के प्रयोगों को अपनाने का उपक्रम गांधीवाद के प्राणहीन शव को ढोना होगा।

गांधी जी ने अपने समय और साधनों के अनुरूप विचार और कर्म की एक विशिष्ट पद्धति विकसित की थी, जो उनके निर्देशन में तो फलवती हुई, किन्तु उनके बाद उसका यथार्थ अनुसरण स्वयं गांधी जी द्वारा दीक्षित-प्रशिक्षित नामधारी नेताओं ने भी शायद ही किया हो। उस पद्धति की जीवनी-शक्ति को तो उड़ जाने दिया गया, पर उसके मृत अंगों का प्रतिरोपण भिन्न-भिन्न संस्था-व्यवस्थाओं में जब-तब होता रहा और अब भी हो रहा है। निर्जीव गांधीवाद बहुतों ने ढोया है, पर गांधी बनने का सौभाग्य फिर किसी को नहीं मिला।

गांधी जी ने तो वर्ण-व्यवस्था तथा पैत्रिक व्यवसाय ही अंगीकार करने के समर्थन में भी डटकर तर्क दिये, तब भी किसी ने उनकी मानव-हितैषिता पर सन्देह नहीं किया, जबकि आज गांधीवादी अर्थनीति के दावेदार आर्यसमाजी राजनेता भी जातिवाद फैलाने का अपयश ढो रहे हैं।

गांधी जी के समान आत्मशुद्धि के पवित्र उद्देश्य के अभाव में अनशन दुराग्रहपूर्ण दबाव डालने का अनुचित साधन बन गया है।

स्वदेशी भावना और बेकारों के लिये काम जुटाने की इच्छा के अभाव में खादी पहनना जनसामान्य से पृथक् एक विशिष्ट वर्ग में सम्मिलित होने का प्रतीक बन गया है।

आध्यात्मिक उत्कर्ष के चरम लक्ष्य की साधना के क्रम में ब्रह्मचर्य-परीक्षा के जो प्रयोग गांधी जी ने किये, उन्हें अपनाने की इच्छा रखने वाला तो गिरकर न जाने किस गर्त में पड़ेगा! अस्तु :

गांधी जी की जो देनें हैं, उनमें से मुख्यतया संग्रहणीय तत्त्व न तो उनका कोई समाजवाद है, न राजनीतिक कार्यशैली, न जीवन-पद्धति और न ही साधना-पद्धति। वहाँ कुछ वरणीय है, तो वह है—परमार्थ से प्रेरित व्यवहार, साधन की पवित्रता और जन-कल्याण की निश्छल वृत्ति, जिसमें कभी तात्कालिक दृष्टि से कुछ अप्रिय भी कहना-करना पड़े, तो भी लोगों को वक्ता-कर्त्ता की सदाशयता पर शंका न हो। ऐसी असंदिग्ध निश्छल वृत्ति के अभाव में वर्गविहीन समाज-रचना और तथाकथित धर्मनिरपेक्षता के ढोल पीट कर भी ऐसा करने वाले केवल अपनी विश्वसनीयता ही कम करेंगे।

एकात्म मानववाद की दृष्टि से गांधी-जीवन-दर्शन की मूल भावना में कुछ भी अग्राह्य नहीं है। परन्तु उसकी बाह्य अभिव्यक्तियों को उपयोगिता पद्धति-भेद के कारण सीमित हो सकती है। प्रेरणा ग्रहण करने का आधार शाश्वत मूल्यों की समानता होना चाहिए, पद्धति को तो समय, साधन, रुचि और योग्यता के अनुसार परम्परा के अन्तर्गत ही विकसित करना अच्छा है। ग्रहण उतना ही करना चाहिए, जितना आत्मसात् हो सके। अधिक अनुकरण हानिकर भी हो सकता है—'देखा देखी साधे जोग, छीजे काया बाढ़े रोग'।

—हरिश्चन्द्र बड़थ्वाल

मंथन

के लिये काम जुटाने की
ना जनसामान्य से पृथक्
त होने का प्रतीक बन

लक्ष्य की साधना के क्रम
ग गांधी जी ने किये, उन्हें
वाला तो गिरकर न जाने
:

में से मुख्यतया संग्रहणीय
जवाद है, न राजनीतिक
और न ही साधना-पद्धति।
है—परमार्थ से प्रेरित
ा और जन-कल्याण की
तात्कालिक दृष्टि से कुछ
, तो भी लोगों को वक्ता-
का न हो। ऐसी असंदिग्ध
वर्गविहीन समाज-रचना
क्षता के ढोल पीट कर भी
ी विश्वसनीयता ही कम

से गांधी-जीवन-दर्शन की
ाह्य नहीं है। परन्तु उसकी
उपयोगिता पद्धति-भेद के
। प्रेरणा ग्रहण करने का
समानता होना चाहिए,
, रुचि और योग्यता के
ही विकसित करना अच्छा
चाहिए, जितना आत्मसात्
ग हानिकर भी हो सकता
छोजे काया बाढ़े रोग'।

—हरिश्चन्द्र बड्थ्वाल

डा० केवलकृष्ण मित्तल

नैतिक चेतना एवं आचरण

नैतिक चेतना एवं आचरण की समस्या पर कुछ कहने से पूर्व भाषाविश्लेषणवादी कहे जाने वाले कुछ दार्शनिकों के एक भ्रान्त मत का निराकरण कर देना ठीक रहेगा। यह मत, जिसका प्रभाव पश्चिमी देशों में बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक तीन या चार दशकों तक व्यापक रूप से रहा है और जिसकी प्रतिध्वनि भारत के विश्वविद्यालयों में आज भी गूंज रही है, नीति-मीमांसा के स्वतन्त्र अस्तित्व को ही चुनौती देता है। इसके अनुसार नीति-मीमांसा की समस्याएं या तो निहित रूप से समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञानादि की समस्याएं हैं अथवा नितान्त मिथ्या हैं और तथा-कथित नैतिक निर्णय, अधिक से अधिक, भावनाओं का द्योतन मात्र करने वाले वस्तुसूचक वाक्य हैं। उनमें प्रयुक्त होने वाले शब्द 'अच्छा' (शिव) अथवा 'बुरा' (अशिव) का अर्थ रुचिकर अथवा अरुचिकर के अति-रिक्त कुछ नहीं।

यह मत क्यों भ्रान्त है, इसको उदाहरण से स्पष्ट करना चाहूंगा। मान लीजिए इस लेख को पढ़ने के पश्चात् आप (पाठकों) में से कोई इसे 'अच्छा' और कोई 'बुरा' कहते हैं तो आपके यथावत् कथन का आधार इसकी भाषा की सरलता अथवा क्लिष्टता और शैली की मृदुता अथवा दुरूहता रूपी शब-परीक्षा, या इसमें आये विचारों की श्रेष्ठता अथवा हीनता और तर्कसंगतता अथवा कुतार्किकता रूपी सजीव-परीक्षा आदि कुछ भी हो सकता है। इन दृष्टिकोणों में से कोई सा भी अपनाया जा सकता है, किन्तु इनमें से किसी में भी न तो 'अच्छा' या 'बुरा' निर्णय की इति होती है और न ही किसी एक को दूसरे में घटाया जा सकता है, क्योंकि आधारभेद से 'अच्छा', 'बुरा' पदों के अर्थों में भी व्यापक भेद हो जाना संभव है। पूर्वोक्त मत को मानने वालों में से कुछ तो इन पदों के प्रयोग में अर्थ-वैभिन्य के लिये स्थान न छोड़ते हुए नैतिक निर्णय लिये हुए वाक्यों को साधारण वस्तुस्थिति-द्योतक वाक्यों में घटाने का विफल प्रयास करते हैं तथा कुछ अन्य, जो पदों के विभिन्न प्रयोगों के विषय में न केवल सजग हैं, वरन् विभिन्न कोटि के अर्थों के व्यामिश्रण के विरुद्ध हमें सतर्क भी करते हैं, वे भी नैतिक अवधारणाओं के द्योतक पदों को निरर्थक प्रलाप घोषित करने लगते हैं। यह ठीक है कि किसी खेल-प्रतियोगिता में 'टोली-भावना' से हुई विजय की बात करते हुए हमें 'टोली-

भावना' को खिलाड़ियों की उछल-कूद के पीछे छिपी हुई तथा सूक्ष्मदर्शी यन्त्र जैसे किसी साधन की सहायता से देखी जा सकने वाली अथवा सर्वथा अदृश्य 'प्रेत-क्रिया' नहीं समझना चाहिए, किन्तु इसका तात्पर्य यह भी नहीं कि 'टोली-भावना' का सही अर्थ समझने की कुछ आवश्यकता ही नहीं है और उसे जानने की समस्या एक मिथ्या समस्या है। अतएव न केवल शुभाशुभ, उचितानुचित, कर्त्तव्याकर्त्तव्य, वांछनीय-अवांछनीय तथा आबन्ध इत्यादि अवधारणाओं की सुचारु परिभाषाएं उपस्थित करना, वरन् 'नैतिक चेतना एवं आचरण' जैसी समस्याओं पर विचार करना भी नीति-मीमांसक दार्शनिक का उचित कार्य कहा जा सकता है।

पाश्चात्य मनीषियों में से अग्रगण्य, महान दार्शनिक सुकात ने "सद्गुण अर्थात् ज्ञान" का सिद्धान्त प्रतिपादित कर नैतिक चेतना और आचरण में किंचित् भी भेद नहीं रखा। उनके अनुसार या तो हम अबोध, अज्ञानी हैं अथवा यदि ज्ञानी हैं तो सद्गुणी हैं। जानबूझकर हम सदाचरण से विमुखता और दुराचरण से लगाव नहीं रख सकते। ज्ञान और सदाचार के इस आत्मसात् रूप के सन्दर्भ में ही हम महाभारत के युधिष्ठिर द्वारा "सत्यंवद" का पाठ कई दिनों के प्रयास से भी कण्ठस्थ न कर पाने की घटना का मर्म समझ सकते हैं। उसी घटना से एक अन्य बात भी उभर कर हमारे सामने आती है—यह कि जिस प्रकार के ज्ञान की अपेक्षा सुकात करते हैं, वैसा ज्ञान कोई-कोई युधिष्ठिर सरीखा ही प्राप्त करने की आकांक्षा और क्षमता रखता है। अधिकांश लोग तो—जैसे युधिष्ठिर के सहपाठी बन्धु कौरव तथा पाण्डव—उस दृष्टि से अबोध अथवा अज्ञानी ही ठहरते हैं। सुकात के अनन्य शिष्य प्लेटो ने भी इसी बात को समझते हुए अपने 'रिपब्लिक' में गिने चुने 'दार्शनिक राज्यकर्त्ताओं' को परामर्श दिया है कि अज्ञानी जनता को अबोध बालकों के समान बहला फुसलाकर, पुरस्कार और दण्ड रूपी लोभ और भय दिखलाकर अथवा धोखे से सन्मार्ग पर ले जायें। ऐसा करने में प्लेटो परोक्ष रूप से सदाचरण का आधार नैतिक चेतना को मानते हुए भी मानव की कुछ हीन कही जाने वाली प्रवृत्तियों के उसमें योगदान को स्वीकार करते प्रतीत होते हैं। किन्तु उनके ऐसा करने से सुकात के ज्ञान तथा आचरण-विषयक सिद्धांत को किंचित् भी आघात नहीं पहुंचता, क्योंकि वृत्तियों का समुचित नियन्त्रण और उपयोग भी ज्ञान का ही एक आवश्यक अंग है और उनके अज्ञानियों में भी नियंत्रण का श्रेय ज्ञानियों को ही है। ज्ञान के इसी व्यापक स्वरूप का वर्णन गीता के तेरहवें अध्याय के ७ से ११ तक के श्लोकों में भी मिलता है।

जन-साधारण अपने को इस प्रकार से नैतिक चेतना-शून्य कहलाना पसन्द न करके नैतिक ज्ञान की परिभाषा को ही बदलकर उसे मात्र बुद्धिगम्यता तक सीमित रखना चाहेगा। दुर्योधन अपने कथन "मैं जानता हूं कि धर्म क्या है, किन्तु उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं और जानता हूं कि अधर्म क्या है, किन्तु उससे मेरी निवृत्ति नहीं" (जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः) द्वारा जन-साधारण के इसी दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है। नैतिक चेतना और आचरण के सम्बन्ध में अरस्तू को भी यही मत मान्य प्रतीत होता है जब वे सुकात के सिद्धान्त 'सद्गुण अर्थात् ज्ञान' के स्थान पर 'सद्गुण अर्थात् प्रवृत्ति' का प्रतिपादन करते हैं। कहीं ऐसा न समझ लिया जाय कि अरस्तू की नीति-मीमांसा में नैतिक चेतना का सर्वथा कोई स्थान नहीं है, अतः यह कहना भी आवश्यक है कि अरस्तू मानव-वृत्तियों में स्वभावतया ही द्वन्द्वात्मकता मानकर उन्हें परस्पर-विरोधी दो आचरण-सरणियों की ओर खींचने वाली बताते हैं और सदाचरण को दोनों के बीच का मध्यमान, जिसका समुचित ज्ञान नैतिक चेतना द्वारा ही होता है।

नैतिक चेतना एवं आचरण सम्बन्धी जिन अन्य मतों की ओर हम इंगित करना चाहते हैं, उनमें से एक महत्वपूर्ण मत है जर्मन दार्शनिक कांट का। कांट ने 'शुद्ध बुद्धि' के समकक्ष नीति-मीमांसा की आधारस्वरूपा 'क्रियात्मक बुद्धि' की कल्पना कर कर्तव्य-विवेक का एक नया सोपान उपस्थित किया है। उनके अनुसार 'सद्वृत्ति' (goodwill) ही वह मणि है, जो अपने ही प्रकाश से ज्वल्यमान है, अर्थात् वह अपने कार्य में पूर्णतः स्वतन्त्र है और वह कार्य है नीतिविषयक उन निरुपा-

धिक आदेशों की निष्पत्ति, जिनका पालन हमारे लिये आबन्धस्वरूप है। कांट के अनुसार नैतिक चेतना और नैतिक आचरण में अनिवार्य सम्बन्ध है। जो आचरण अन्य स्रोतों से उद्गमित सोपाधिक आदेशों पर आधारित है, उसे कांट नैतिक आचरण ही नहीं मानते। साधारणतया हमारा समस्त आचरण सोपाधिक आदेशों की जकड़न में कुछ इस प्रकार है कि निरुपाधिक आदेश पर आधारित आचरण कौनसा और कैसा होगा, इसकी कल्पना करना ही असम्भव प्रतीत होता है। इसीलिये कांट के आलोचक कहते हैं कि कांट की वृत्ति एक ऐसी वृत्ति है जो कुछ भी आदेश नहीं देती (Kant's will is a will that wills nothing)। कुछ भी हो, नैतिक आचरण के प्रति कांट का मापदण्ड बड़ा ही कड़ा है, जिसके अनुसार 'क्या नैतिक नहीं है' निश्चित करना भले ही सरल हो, किन्तु 'क्या नैतिक है' जान पाना अत्यन्त कठिन है।

नैतिक चेतना सम्बन्धी एक अन्य मत के अनुसार जिस प्रकार हमें रूप-रस-गन्धादि की ऐन्द्रिक संवेदन द्वारा उपलब्धि होती है, उसी प्रकार 'अच्छे-बुरे', 'उचित-अनुचित' आदि की नैतिक संवेदन द्वारा। और, जिस प्रकार रूप-रस-गन्ध आदि का संवेदन स्वतः ही उनके प्रति एक भावना का जागरण और तत्सम्बन्धी एक क्रिया का उत्पादन करता है, नैतिक संवेदन भी हमें उसी प्रकार नैतिक आचरण की ओर प्रेरित करता है। किन्तु ज्ञान और प्रेरणा तथा उसके कार्य में फलीभूत होने में किसी प्रकार की अनिवार्यता नहीं। आवश्यक नहीं कि नैतिक चेतना हमें नैतिक आचरण की ओर प्रवृत्त करे। कुछ विचारक नैतिक संवेदन को एक प्रकार से 'मूल्य चेतना' मानकर इसके उतने ही प्रकार मानते हैं, जितने प्रकार के मूल्य हैं। उनमें से कुछ संवेदन अधिक प्रखर और कुछ कुण्ठित अथवा नितान्त शून्यप्राय होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि जिसे उत्कोच (घूस) लेने में कुछ बुराई नहीं दिखाई देती, उसे चोरी करने अथवा किसी की हत्या करने में जघन्य पाप का अनुभव न हो। कुछ विचारक सभी प्रकार के नैतिक संवेदन के लिये 'अन्तरात्मा' नामी एक ही चेतनावृत्ति के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। उनका कथन है कि अन्तरात्मा शुभाशुभ-विवेक में अचूक होते हुए भी नैतिक आचरण में प्रवृत्त करने में विफल रह सकता है और प्रायः रहता है, क्योंकि इसके पास जितनी सत्ता है उतनी शक्ति नहीं।

मोटे रूप से पूर्ववर्णित किसी भी एक मत के मानने वालों में से प्रत्येक की चेतना के आधार पर प्रत्येक घटना में एक जैसा ही शुभ या अशुभ का निर्णय किया जा सकना चाहिए, किन्तु व्यवहार में ऐसा न होकर पर्याप्त मतभिन्नता ही दृष्टिगोचर होती है। इसी कारण सम्भवतः महाभारत में कहा गया है—

> वेदा विभिन्ना स्मृतयो विभिन्ना
> नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्।
> धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
> महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

इस सूक्ति के संकेत के अनुसार बहुत से लोगों के चलन की परख की बात सोचते हुए मुझे एक घटना स्मरण हो आयी है। लगभग सतरह वर्ष पूर्व में एक आठ-नौ वर्षीय बालक के साथ एक बाजार में से चला जा रहा था कि सहसा बच्चे ने मुझसे कहा, "चाचाजी! प्यास लगी है।" तभी हम एक ऐसे भवन के आगे पहुंचे, जिसके बाहर एक टोंटी लगी पानी की टंकी रखी थी। मेरे संकेत पर बच्चे ने पानी पिया और पीते ही सहज बुद्धि से पूछा, "यह टंकी यहां किसने रखी है?" मैंने उत्तर दिया, "सम्भवतः उस मकान वालों ने।" बालक ने तुरन्त एक और प्रश्न दे मारा, "किन्तु चाचाजी! उनको इससे क्या लाभ?" मैं पर्याप्त कठिनाई के उपरान्त भी उसे यह नहीं समझा पाया कि कुछ कार्य लोग ऐसे भी करते हैं, जिनको पुण्य कार्य कहा जाता है और जिनको करने में किसी भी प्रकार के प्रत्यक्ष निजी लाभ का हेतु न रहकर उन लोगों की नैतिकता ही उनको करने की प्रेरणा देती है। आज यह लाभ ढूंढने की दृष्टि सतरह वर्ष पूर्व से कहीं अधिक बढ़ी हुई है और उत्तरोत्तर बढ़ रही है। यदि हम आज नग्न स्वार्थपूर्णता और अवसरवादिता को आचरण के मूल में स्थित देखते हैं तो बरबस कहना पड़ता है कि नैतिक चेतना का अभाव हो गया है। किन्तु, तनिक ध्यान से सोचें तो ज्ञात होगा कि यह अभाव नैतिक चेतना का

नहीं, वरन् तदनुरूप आचरण का ही कहीं अधिक है। लोग अपने विषय में तो अधिक नहीं, किन्तु अन्य लोगों के नैतिक कार्यों की प्रशंसा तथा विशेष रूप से अनैतिक कार्यों की निन्दा करते प्रायः सुने जाते हैं और यह प्रशंसा तथा निन्दा बिना नैतिक चेतना के नहीं हो सकती। ऐसा भी नहीं कि नैतिक कार्य आज नितान्त हो ही नहीं रहे। केवल उनकी मात्रा में कमी तथा उनके प्रति हमारी, अरुचि नहीं तो, उदासीनता में बढ़ोतरी हुई है और यह सब हुआ है या हो रहा है मात्र 'अभाव' ही के कारण नहीं, अपितु एक विशिष्ट प्रकार के 'प्रभाव' के कारण भी।

आज हमारे सामाजिक जीवन में राजनीति और अर्थ-नीति—इन दोनों का ही अत्यधिक प्रभाव दिख रहा है। राज्यलिप्सा अत्यधिक बढ़ गयी है। राज्यप्राप्ति के लिये उचित-अनुचित किसी भी प्रकार के साधन हमें उपयुक्त लगते हैं। लक्ष्य यदि सत्ता हस्तगत करने का है तो उसको जैसे-तैसे हस्तगत करना ही चाहिए। यह एक प्रकार का संघर्ष है और संघर्ष में "सब चलता है," ऐसी ही हमारी धारणा है। ऐसी ही हो भी क्यों न, जबकि काम और अर्थ, जिन्हें परम्परा से ही पुरुषार्थ माना गया है, दोनों ही की सिद्धि आज राज्य द्वारा सुलभ है। काम और अर्थ का मिला-जुला पिशाच आज हमारी छाती पर चढ़ कर दहाड़ रहा है तथा उसके भीषण स्वर के सम्मुख मोक्ष और धर्म की ध्वनि यदि बन्द न हो गयी है तो भी मन्द अवश्य पड़ गयी है। मनुष्य का मूल्य आज सरकारी पद और धन-सम्पत्ति की बहुलता अथवा उसकी उपलब्धि की सुगमता से आंका जाता है। प्रायः लोग अपनी स्नातक परीक्षोत्तीर्ण कन्या के लिये स्नातकोत्तर उत्तीर्ण विद्यालय-प्रवक्ता की अपेक्षा एक मेट्रिकुलेट ओवरसीयर को वर के रूप में वरण करते हुए देखे जाते हैं। कारण स्पष्ट है: एक विद्यालय-प्रवक्ता को एक ओवरसीयर से वेतन भले ही तीन गुना अधिक मिलता हो, किन्तु उसे 'ऊपर की आय' की सुविधा नहीं है जबकि एक ओवरसीयर 'ऊपर की आय' से प्राध्यापक से कई गुना अधिक 'कमा' सकता है। रोचक बात यह है कि 'ऊपरी आय' वाले जामाताओं के श्वसुर भी अपनी निजी बातचीत में घूसखोरी को पाप ही कहते सुने जाते हैं। अभाव यहाँ नैतिक चेतना का नहीं, तदनुरूप आचरण का है।

मानव-आचरण में 'अर्थ' का अत्यधिक प्रभाव देखकर ही सम्भवतः मार्क्स ने मानव की नैतिक चेतना और आचरण का ऐतिहासिक विवेचन आर्थिक आधार पर ही किया। उनके अनुयायी तो 'बाबा वाक्यं प्रमाणम्' के अनुरूप अपने आचरण में उस व्याख्या को झुठलाते हुए भी आर्थिक सम्बन्धों में ही मानव के समस्त सम्बन्धों की इतिश्री की घोषणा करते हैं। कुछ ही दिन हुए मेरे एक सहयोगी, जो अपने आप को गहरे लाल रंग का साम्यवादी मानते हैं, मुझे डाकघर में अपने पिता को धनादेश (मनीआर्डर) भेजते हुए मिले। मेरे पूछने पर, "कहिए, श्रीमान क्या हो रहा है?" वे बोले, "पितृऋण चुका रहा हूं।" मेरे इस उद्गार पर कि "भैया, यह मात्र रुपये-पैसे से तो चुकेगा नहीं", वे कुछ उत्तेजित होकर कहने लगे, "रुपये-पैसे के अतिरिक्त हमारे सम्बन्धों का आधार कुछ और है, ऐसा सोचना ही गलती है, मध्यवर्गीय बकवास है—"। चर्चा इससे आगे नहीं बढ़ी, किन्तु यदि बढ़ती तो कदाचित् मैं उनको यह बात स्वयं उनके व्यवहार के आधार पर अनुभव करा पाता कि पिता-पुत्र के बीच के सम्बन्ध की परिसमाप्ति आर्थिक माप-तौल में नहीं हो सकती। हमारे इन और इन जैसे अन्य साम्यवादी बन्धुओं का कथन है कि हमारी विकृत नैतिक चेतना और आचरण का कारण है—मानव-मानव में वह विकृत आर्थिक सम्बन्ध, जो हमें हमारी आज की पूंजीवादी सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था की थाती के रूप में प्राप्त है। पूंजीवादी समाज-रचना की एक बड़ी अनैतिकता तो हम सबको खल सकती है, यह कि इसमें एक ओर उत्पादन के साधनों के स्वामी कुछ लोग बिना कुछ करते दिखते हुए मौज उड़ा रहे हैं तो दूसरी ओर कठिन परिश्रम करने वाले कृषक मजदूर को दो समय भोजन भी भरपेट नहीं मिलता। स्वाभाविक है कि हमें "कमाने वाला खायेगा" का नारा आकर्षक लगे। पूंजीवादी व्यवस्था में व्याप्त मानव का मानव द्वारा भीषण शोषण देखकर हममें से कुछ-एक को समाजवाद के हित में 'सर्वहारा क्रान्ति' ही नहीं, अपितु 'सर्वाहारा तानाशाही' भी, जिसे मार्क्सवादी साम्यवाद की राह में एक आवश्यक पड़ाव मानते

ों, तदनुरूप आचरण का है।

का अत्यधिक प्रभाव देखकर
नव की नैतिक चेतना और
विवेचन आर्थिक आधार पर
ा तो 'बाबा वाक्यं प्रमाणम्'
में उस व्याख्या को झुठलाते
में ही मानव के समस्त
घोषणा करते हैं। कुछ ही
ी, जो अपने आप को गहरे
मानते हैं, मुझे डाकघर में
श (मनीआर्डर) भेजते हुए
कहिए, श्रीमान क्या हो रहा
ण चुका रहा हूं"। मेरे इस
ह मात्र रुपये-पैसे से तो चुकेगा
होकर कहने लगे, "रुपये-पैसे
र्थों का आधार कुछ और है,
, मध्यवर्गीय बकवास है—"।
बढ़ी, किन्तु यदि बढ़ती तो
बात स्वयं उनके व्यवहार के
ी पाता कि पिता-पुत्र के बीच
त आर्थिक माप-तौल में नहीं
और इन जैसे अन्य साम्यवादी
हमारी विकृत नैतिक चेतना
ण है—मानव-मानव में वह
, जो हमें हमारी आज की
र्थिक व्यवस्था की थाती के
ादी समाज-रचना की एक बड़ी
को खल सकती है, यह कि
ादन के साधनों के स्वामी
करते दिखते हुए मौज उड़ा
ठिन परिश्रम करने वाले कृषक
जन भी भरपेट नहीं मिलता।
"कमाने वाला खायेगा" का
पूंजीवादी व्यवस्था में व्याप्त
भीषण शोषण देखकर हममें से
के हित में 'सर्वहारा क्रान्ति'
रा तानाशाही' भी, जिसे मार्क्स-
ड़ में एक आवश्यक पड़ाव मानते

हैं, नैतिक औचित्य लिये लग सकती है।

आज के हमारे चलन को कुछ लोग कलिकाल का प्रभाव मानते हैं। उनके और मार्क्सवादियों के विचार में सामाजिक व्यवस्थाओं की नैसर्गिक परिवर्तनशीलता की बात समान रूप से स्वीकार्य है। दोनों के ही अनुसार नैसर्गिक गति एक प्रकार से चक्रीय है, क्योंकि यदि पहले में कृतयुग, त्रेतायुग, द्वापर और कलियुग के पश्चात् पुनः कृतयुग के आगमन की कल्पना की गयी है तो दूसरे के अनुसार भी आदिम साम्यवाद, सामन्तवाद, पूंजीवाद और समाजवाद के पश्चात् फिर से साम्यवाद के आने की बात कही गयी है। इस बाह्य समानता के रहते हुए भी दोनों विचारधाराओं में मूलतः आन्तरिक अन्तर है। पहली में युग-विभाजन का आधार धर्म के रूप-परिवर्तन में है। उदाहरणार्थ—मनु कहते हैं :

अन्ये कृते युगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे।
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुसारतः॥

दूसरी में युग-विभाजन का आधार आर्थिक प्रगति तथा उत्पादन के साधनों का हस्तान्तरण है।

मनु सरीखे मनीषियों की युग-विभाजन की विचार-सरणि की आलोचना हम यह कहकर कर सकते हैं कि वह हमें फिर से उस मोड़ पर लाकर खड़ा कर देती है, जहां से हमने महाजनों के प्रत्यक्ष आचरण का अवलोकन प्रारम्भ किया था। प्रश्न फिर हमारे सम्मुख उभरता है—'धर्म माने क्या?' स्वयं मनु द्वारा दी गयी धर्म की परिभाषा उस विषय में कुछ सहायता अवश्य करती है, किन्तु पूरा उत्तर उससे भी नहीं मिलता। मनु धर्म के एक नहीं, दो नहीं, धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, सुबुद्धि, विद्या, सत्य तथा अक्रोध—पूरे दस लक्षण हमारे सामने रखकर मानव की नैतिक चेतना की अनेकरूपता और आचरण की उस विविधता का बोध हमें कराते हैं, जो मानव-स्वभाव में निहित अनेक वृत्तियों का प्रतिफलन है। मनु के इस प्रयास में हमारे लिये दिशा-निर्देश है।

रही बात मार्क्सवाद की, इसकी आलोचना दो स्तरों पर हो सकती है। एक तो प्रकट तथ्यों के आधार पर, और दूसरे—सिद्धान्त रूप में। पहले के विषय में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि इसके अनुसार स्थापित तथाकथित समाजवाद अथवा 'सर्वहारा की तानाशाही' का पिछले लगभग साठ वर्ष का रक्तरंजित इतिहास प्रशंसनीय न होकर हमें इस विषय में पुनः विचार करने की ओर ही प्रेरित करता है। तानाशाह रक्त क्रान्ति से पूर्व भले ही सर्वहारा अथवा सर्वहारों के प्रतिनिधि नेता हों, एक बार राज्य और अर्थ—दोनों की ही केन्द्रीभूत शक्ति उनके हाथों में आयी नहीं कि उनके 'पूंजीवादी लोकतान्त्रिकों' से भी बढ़कर भ्रष्टाचारी बनने में देर नहीं। वे अपने आपको अथवा अपने चहेतों को राज्य-सत्ता में बनाये रखने के लिये जिस प्रकार के षड्यन्त्र रचते हैं और जिस प्रकार उनके राज्य में जनमानस त्रस्त और आतंकित रहता है, उसके उदाहरण अन्यत्र नहीं मिलते। इस समाजवादी व्यवस्था में व्यक्ति की स्थिति एक बृहत् यन्त्र (मशीन) के एक अत्यन्त हीन पुर्जे के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। उसकी नैतिक चेतना एवं आचरण उसके शासकों द्वारा बचपन से ही रटायी गयी नियमानुशासन-तालिका और तदनुरूप अभ्यस्त व्यवहार के ही उत्तम नमूने हैं। सिद्धान्त रूप में मार्क्सवाद के विरुद्ध यह शिकायत है कि इसमें मानव-स्वभाव का बहुत ही संकुचित चित्र प्रस्तुत किया गया है। खाने और कमाने के अतिरिक्त भी मानव के कुछ महत्वपूर्ण कर्म हैं, जिनकी अवहेलना करना मानव के मानवपन से इनकार करने के समान है।

मानव-स्वभाव के किसी भी पक्ष की अवहेलना नहीं की जानी चाहिए, किसी के भी अभाव की बात नहीं सोचनी चाहिए। काम, क्रोध, मोह, लोभ और अहंकार के भी, जो प्रायः परम्परागत शत्रु माने जाते हैं, अभाव की बात भी मेरी दृष्टि में अनुचित है। इस विषय में हमें भूलना नहीं चाहिए कि त्यक्त मलमूत्र तक खाद के रूप में सुन्दर, सुरभिपूर्ण सुमनों के उत्पादन एवं प्रवर्धन के लिये उपयोगी है। आवश्यकता यह है कि मानव-स्वभाव में निहित नैतिक चेतना की अनेकरूपता और वृत्तियों की विविधता का हम सांगोपांग विचार करें; उनके प्रभावों को नियन्त्रित कर

उनमें यथास्थान, यथासमय, यथाशक्ति, यथासमाज आदि अनेकविध संतुलन स्थापित करें। यदि हम ऐसा करने में समर्थ हुए तो फिर से वह सत्युग आयेगा, जिसके विषय में महाभारत में कहा गया है :-

न राज्यं न राजासीत् न दण्डो न च दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजा सर्वाः रक्षन्तिस्म परस्परम् ॥

और वह राज्यविहीन आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था उभरेगी, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति स्वेच्छा से अपनी क्षमता के अनुसार काम करेगा तथा सबको आवश्यकतानुसार सुख-सुविधा उपलब्ध होगी, अर्थात् पं० दीनदयाल उपाध्याय के शब्दों में "कमाने वाला खिलायेगा," "जन्मा सो खायेगा" और "खाने वाला कमायेगा" (एकात्म मानववाद, पृ० ७१, ७७)। यही है वह व्यवस्था, जिसका स्वप्न मार्क्स ने भी देखा; किन्तु उसे समझने-समझाने में एक विकृति का दोष उनके द्वारा रह गया—यह कि व्यवस्था को राज्यविहीन मानते हुए भी उन्होंने अपेक्षा की "प्रत्येक से क्षमता के अनुसार और प्रत्येक को आवश्यकतानुसार" के शब्दों में, मानो लोगों को स्वेच्छापूर्वक दोनों काम स्वयं न करने हों, किसी अन्य सत्ता द्वारा उनसे कराये जाने हों। इसीलिये उनके अनुयायियों ने प्रजा के "धर्म द्वारा परस्पर रक्षण" की बात को भूलकर "कमाने वाला खायेगा, बिना कमाये खाने वाला मिटाया जायेगा" का कलहपूर्ण नारा लगाया।

नैतिक चेतना एवं आचरण में मंजुल तालमेल बैठाने वाली व्यवस्था वही होगी, जिसमें मानव-स्वभाव की व्यापकता का ध्यान रखते हुए इसके किसी भी पक्ष की अवहेलना न करके—उसके अभाव की बात न सोचकर—सभी के समुचित 'प्रभाव' का संतुलन बनाने वाले श्रेष्ठ मानववाद का उदय होगा।

बौद्धाध्ययन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

डा० जगदीश्वरप्रसाद डी० लिट०

मध्ययुगीन मानव-मूल्य और तुलसीदास

भारतीय जीवन-दृष्टि की विशिष्टता

भारतीय दर्शन में उस परम सत्ता के अन्वेषण की महान चेष्टा वर्तमान है, जो सृष्टि के अस्तित्व का सार तत्त्व है। इस तत्त्व को परम चेतन अथवा परमात्मा के नाम से अभिहित किया गया है। समस्त सृष्टि में परमात्मा का अंश व्याप्त है। इसकी संज्ञा आत्मा अथवा चैतन्य है। प्रत्येक वस्तु का सार तत्त्व यही है। इसके अभाव में वस्तु का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। इस प्रकार एक ही परम चैतन्य अंशभूत रूप से सृष्टि के प्रत्येक कण में व्याप्त है। अतः सभी वस्तुओं में तात्त्विक एकता है। अन्तर मात्र बाह्य आवरण का है। कीट-पतंग जैसे छोटे जीव और मनुष्य जैसे विकसित प्राणी में तत्त्वतः कोई अन्तर नहीं, क्योंकि सभी में एक ही आत्मतत्त्व अनुस्यूत है। यह सभी जीवों की एकता ही औपनिषदिक दृष्टि है।

समता के इस सिद्धान्त ने भारतीय जीवन-दृष्टि में एक विराट् अभेद की भावना भर दी है। जीव-मात्र की एकता तथा विश्व-बन्धुत्व की भावना ने उसकी जीवन-दृष्टि को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया है। यही वह केन्द्र-बिन्दु है, जिसके चारों ओर लौकिक और अलौकिक चेतना घूमती है।

ईश्वर, जीव और जगत् को एक सूत्र में अनुस्यूत देखने के कारण जीवन के प्रति एक सामंजस्यपूर्ण दृष्टि का विकास सहज ही हो गया है। परमात्मा को चरम लक्ष्य मानने के कारण जीव को जगत् के साथ सामंजस्यपूर्ण सम्बन्धों का निर्वाह करते हुए उसी की प्राप्ति की चेष्टा करनी चाहिए। जिन कलुषों और आवरणों ने आत्मा का स्वरूप मलिन कर दिया है, उन्हें दूर करने पर ही आत्मा में परमात्मा का साक्षात्कार हो सकता है। निरन्तर आत्म-परिष्कार से ही यह सम्भव है।

ऐसी विराट् एवं सामंजस्यपूर्ण दृष्टि के कारण भारतीय जीवन-दर्शन में मानवीय गुणों के विकास की सतत् चेष्टा दीख पड़ती है। प्रत्येक युग में प्रत्यक्ष अथवा प्रच्छन्न रूप से इस जीवन-दृष्टि ने भारतीय चिन्तन को प्रभावित किया है।

मध्ययुगीन जीवन-दृष्टि :

मध्ययुगीन मानव-मूल्यों का विश्लेषण भी इसी विराट् जीवन-दृष्टि की पृष्ठभूमि में करना आवश्यक है। मध्य-युग मूढ़ता, अज्ञता तथा विघटनशील प्रवृत्तियों का युग था। हर्षवर्द्धन के शासनकाल तक का युग भारत के सांस्कृतिक विकास का युग था। उसकी मृत्यु के पश्चात् सक्षम केन्द्रीय शासन के अभाव में देश भर में अराजकता फैल गयी। सामन्तवादी प्रवृत्तियों के उदय से राष्ट्रीय चेतना लुप्त हो रही थी। शक्ति इन्हीं सामन्तों में निहित हो गयी थी, अतः वे पूर्णतः निरंकुश हो उठे थे। जीवन के प्रति गम्भीर उद्देश्य के अभाव में विलासिता की भावना में वृद्धि हो रही थी और ये शक्तिसम्पन्न लोग जनसामान्य के हितों की उपेक्षा करके व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये उनका अनेक रूपों में शोषण करने लगे थे। सामन्त अपनी शक्ति का प्रदर्शन प्रायः पारस्परिक युद्धों में करते थे। अतएव राष्ट्रीय चेतना तथा सामंजस्यपूर्ण जीवन-मूल्यों के ह्रास के परिणामस्वरूप भारतीय जनता मुसलमानी आक्रमणों के आगे परास्त हो गयी।

मुसलमानों के प्रवेश से मुगल शासन की स्थापना के काल तक देश में अराजकता व्याप्त रही। कुछ अपवादों को छोड़कर विजेता के गर्व से स्फीत मुस्लिम शासक शोषण, अत्याचार और अनाचार का नग्न नृत्य करते रहे। वे अपनी धार्मिक, सांस्कृतिक, तथा जाति-गत श्रेष्ठता तलवार की धार से प्रमाणित करने का प्रयत्न करते रहे और भारतीय जनसमुदाय हताश होकर इसे सहन करता रहा।

स्पष्ट ही ऐसी परिस्थिति में, जब जनसमुदाय आर्थिक दृष्टि से शोषित तथा धार्मिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से अपमानित हो रहा हो और जहाँ उसकी समस्त चेष्टाएं आत्मरक्षा की दिशा में केन्द्रित हों, उदात्त मूल्यों का ह्रास अवश्यंभावी है। ऐसी स्थितियों में मनुष्य के मानवीय गुणों का ह्रास होने लगता है, उसकी चेतना कुण्ठित हो जाती है और उच्च आदर्श लुप्त होने लगते हैं। जब मनुष्य के अस्तित्व पर ही प्रश्नवाचक चिह्न लगा हो, उस समय उसका ध्यान जीवन के गम्भीर उद्देश्यों की ओर नहीं जा सकता।

परन्तु, भारतीय संस्कृति में कुछ ऐसे तत्त्व हैं, जिन्होंने ऐसी विषम परिस्थितियों में भी मानव-मूल्यों की रक्षा की और जिनके परिणामस्वरूप आक्रमणकारियों की सर्वथा भिन्न संस्कृतियों को भी प्रायः आत्मसात् करने में यह देश सफल रहा।

वस्तुतः उस काल में दो प्रकार की परस्पर-विरोधी प्रक्रियाएं एक साथ चल रही थीं। एक ओर शासक वर्ग तलवार की नोक से अपनी बात मनवाने का प्रयत्न करके अमानवीय वृत्तियों का परिचय दे रहा था तो दूसरी ओर कुछ मानवतावादी विचारक (जिनमें मुसलमान सूफी सन्त भी सम्मिलित थे) मानवता के प्रति विश्वास तथा मानव-मूल्यों की स्थापना का प्रयत्न कर रहे थे। इस प्रकार प्रकट संघर्ष के साथ-साथ सांस्कृतिक समन्वय की प्रच्छन्न धारा भी प्रवाहित हो रही थी।

विघटन और विरोध से भरी ऐसी विषम परिस्थिति में भी मानवतावादी समन्वय-भावना के मूल में जीव मात्र तथा जीव-ब्रह्म की एकता का दर्शन करने वाली औपनिषदिक दृष्टि ही थी, जिसकी अन्तर्धारा अब तक भी बाह्य विषमताओं में आन्तरिक समता सरसाती हुई प्रच्छन्न रूप से प्रवाहित होती रही थी। एकता तथा आस्तिकता की यह उदात्त दृष्टि प्रतिकूल परिस्थितियों में प्रकटतः अस्तित्वहीन सी प्रतीत होती हुई अन्तर्धारा के रूप में प्रवाहित होती रही, किन्तु किंचित् अनुकूल परिस्थिति पाते ही जिस रूप में यह प्रकट हुई—उसका नाम है भक्ति।

भक्ति और मानव-मूल्य :

भक्ति का जहाँ एक आध्यात्मिक मूल्य है, वहीं सांस्कृतिक तथा मानवतावादी मूल्य भी हैं। मध्ययुग में भक्ति युग-धर्म बनकर अवतरित हुई। यह एक विराट् जन-आन्दोलन के रूप में प्रकट हुई और प्रथम बार इसके आध्यात्मिक, सांस्कृतिक तथा मानवतावादी चरण एक साथ सामने आये। इसे लोक और परलोक के उस सेतु के रूप में ग्रहण किया गया, जो लौकिक

क्षेत्र में समस्त मानवीय गुणों की रक्षा करता हुआ पारमार्थिक क्षेत्र में परमात्म तत्त्व का सान्निध्य प्राप्त करने में सहायक होता है।

भक्ति ईश्वर में परम अनुरक्ति का नाम है[1]। इसके भौतिक धरातल पर लोक-कल्याण, लोकसंग्रह तथा मानवतावादी दृष्टि का प्रसार दीख पड़ता है तो आध्यात्मिक धरातल पर समस्त वृत्तियों के परिष्कार-संस्कार के द्वारा बहिर्मुख वृत्तियों को अन्तर्मुख कर उन्हें परम तत्त्व में लीन कर देने की साधना भी चलती दिखायी देती है। भक्ति परमात्मा के चरम सान्निध्य का सहज साधन है तथा साथ ही साथ यह समस्त मानवतावादी मूल्यों की प्रतिष्ठापिका भी है। लौकिक धरातल पर इसमें मानवतावादी स्वर ही मुख्य है। मानवीय वृत्तियों के उन्नयन एवं परिष्करण के द्वारा यह मनुष्य को ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त करने के योग्य बनाती है।

मानव-मूल्यों की स्थापना की व्यापक चेष्टा भक्ति की निर्गुण और सगुण दोनों धाराओं में दीख पड़ती है। निर्गुण काव्य की प्रेमाश्रयी शाखा के साधकों ने जाति अथवा वर्णगत विभेदों से ऊपर उठकर प्रेम के विविध रूपों के माध्यम से जीव और ब्रह्म की अभिन्नता प्रतिपादित की। प्रेम की ऐसी साधना में बाह्य विभेद के लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता।

कबीर तथा अन्य ज्ञानतत्त्व के अन्वेषी साधकों ने मानव को सर्वोपरि रखकर मानवता-विरोधी सभी तत्त्वों पर प्रहार किया। उन समस्त रूढ़ियों का खण्डन इनका प्रतिपाद्य हुआ, जो मनुष्य को बाह्य प्रदर्शन तथा आडम्बर में उलझाकर वृत्तियों को संकुचित करते हैं। ज्ञान-मार्ग बौद्धिक धरातल पर जीवन और जगत् की समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न है। जन-मानस को रूढ़ि-मुक्त कर मानवीय मूल्यों की स्थापना की दिशा में यह एक महत् आन्दोलन रहा है।

सगुण भक्तिधारा में व्यक्ति की रागात्मिका वृत्ति के उन्नयन का प्रयत्न किया गया है। समर्पण-भावना, तन्मयता तथा अनन्य भाव से परमात्म तत्त्व के प्रति आसक्ति इसी रागात्मिका वृत्ति की परिणति है। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन के रूप में प्रतिपादित नवधाभक्ति में तन्मयता, रागात्मकता एवं समर्पण-भावना अपने अत्यन्त उदात्त एवं महिमा-मण्डित रूप में दीख पड़ती है।

कृष्ण-भक्ति-धारा में इस तत्त्व का चरम विकास हुआ है। गोपियों में समर्पण-भावना, तन्मयासक्ति और प्रेम की पराकाष्ठा दीख पड़ती है। वेणुगीत, रासलीला, गोपिकागीत, भ्रमरगीत इत्यादि प्रसंग इसके उदाहरण हैं।

तुलसीदास जी की राम-भक्ति-धारा में भी इस तत्त्व का विकसित रूप दीख पड़ता है। 'विनयपत्रिका' में समर्पण-भावना एवं आत्म-निवेदन का चरम रूप वर्तमान है।

भक्ति-भावना के सभी रूपों में मानवीय वृत्तियों के उदात्तीकरण तथा परिष्करण की चेष्टा प्रमुख है। इससे व्यक्ति की बाह्य एवं आन्तरिक वृत्तियों का परिष्कार सहज ही हो जाता है। मध्ययुग की विघटनशील परिस्थितियों में इसी भक्ति को माध्यम बना कर मानव-मूल्यों की रक्षा का प्रयत्न किया गया। अत्याचार और शोषण के मध्य इसी मार्ग के अवलम्बन से व्यक्ति की सद्वृत्तियों की विजय सम्भव हो सकी और जन-सामान्य के निराश हृदय को शान्ति मिल सकी।

तुलसीदास की विशिष्टता :

तुलसीदास जी ने भक्ति के इस व्यापक रूप को देखा और एकमात्र इसे ही युगधर्म के रूप में स्वीकार किया। उनकी भक्ति मनुष्य की व्यक्तिगत मुक्ति का साधन मात्र नहीं, यह सामाजिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। इसलिये उनके 'मानस' में मानव-धर्म की सर्वाधिक रक्षा हुई है।

अपने युग की विघटनकारी प्रवृत्तियों से तुलसीदास का हृदय अत्यधिक संवेदित हुआ था। मुगलकालीन

विलासिता की पृष्ठभूमि में उन्होंने अनुभव किया था कि मनुष्य किस प्रकार ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त करने के लक्ष्य से पतित होकर अपना जीवन विलासिता के साधन जुटाने में नष्ट कर रहा है। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि किस प्रकार जन-सामान्य अज्ञान और अशिक्षा से आक्रान्त होकर जीवन के अपने महत् लक्ष्य से पतित हो गया था।

भक्ति की व्याख्या करते समय मनुष्य का यह रूप उनके मस्तिष्क में सर्वोपरि था। 'मानस' की रचना का प्रमुख उद्देश्य दिग्भ्रमित मानव को उसके वास्तविक लक्ष्य में पुनर्नियोजित करना तथा जन-सामान्य को सांसारिक कष्टों से मुक्ति दिलाना था।[३] सभी जीवों से मनुष्य-शरीर की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हुए उन्होंने इसे देवताओं के लिये भी दुर्लभ माना।[४] यह मनुष्य शरीर साधन-धाम और मोक्ष का द्वार है, भव-वारिधि का बेड़ा है।[५] ऐसे अमूल्य शरीर का लक्ष्य विषय-भोग नहीं हो सकता। जो इसे पाकर विषयों में आसक्त रहता है, वह अमृत देकर विष लेता है, पारस मणि खोकर गुंजा लेने दौड़ता है—नरतनु पाइ विषय मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ विष लेहीं॥ ताहि कबहुं भल कहै न कोई। गुंजा ग्रहै परस मनि खोई॥ उत्तर० ४३/१

मानस-रोगों से आक्रान्त होने पर मनुष्य की सद्वृत्तियाँ कुण्ठित हो जाती हैं और वह लक्ष्य-भ्रष्ट हो जाता है। मोह, काम, क्रोध, विषय, ममता, ईर्ष्या, दुष्टता, मन का खोटापन, अहंकार, दम्भ, कपट, मद, त्रिविध एषणाएं, मत्सर, अविवेक इत्यादि रोगों से मनुष्य ग्रस्त रहता है। उत्तरकाण्ड में तुलसीदास जी ने इन मानस-रोगों की रूपकात्मक व्याख्या की है। वैसे इस रोग को दूर करने के नियम, धर्म, आचार, तप, ज्ञान, यज्ञ, जप, दान इत्यादि अनेक उपाय हैं, किन्तु इनसे प्रायः यह रोग दूर होता नहीं।[६] भक्ति ही एकमात्र साधन है जो इस रोग को दूर करने में समर्थ है। भक्ति में तुलसीदास जी की आस्था इतनी है कि उन्होंने स्पष्ट घोषणा की है—चाहे जल से घी और सिकता से तेल निकल आय, किन्तु यह सिद्धान्त अकाट्य है कि हरि-भजन के बिना संसार से पार नहीं हुआ जा सकता।[७]

भक्ति को उन्होंने युग-धर्म के रूप में देखा। अपने मानसिक संस्थान की विशिष्टता के कारण प्रत्येक युग का अपना धर्म होता है। युग-धर्मानुरूप क्रिया ही युग विशेष में फलवती होती है, इसलिये सतयुग में केवल ध्यान से, त्रेता में यज्ञ से, द्वापर में राम के पूजन से और कलियुग में केवल हरिगुण गाने से मुक्ति मिल जाती है[८]। कलियुग की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं कि इस युग में मानसिक पुण्य तो होते हैं, पर मानसिक पाप नहीं होते, इसलिये मन से तनिक भी नाम-स्मरण करते ही उसका फल मिल जाता है। इसीलिये तुलसीदास जी कि यह धारणा है कि कलियुग के समान दूसरा युग नहीं है, जिसमें राम का विमल गुण गाकर ही मनुष्य बिना किसी विशेष परिश्रम के मुक्ति पा सकता है।[९] तामसी वृत्तियों की प्रधानता और रजोगुण की अल्पता कलियुग का युग-स्वभाव है, किन्तु राम के चरणों में प्रेम करने वाले को यह युग-स्वभाव व्याप्त नहीं करता।[१०]

तुलसीदास जी की भक्ति में मानव-वृत्तियों का परिष्कारक रूप अत्यन्त स्पष्ट है। उन्होंने 'भक्ति' शब्द का प्रयोग केवल ईश्वर के चरणों में अनुरक्ति के अर्थ में ही नहीं किया, अपितु उन साधनों के अर्थ में भी किया है जो इसकी सिद्धि में सहायक होते हैं। शबरी को नवधा भक्ति के उपदेश के क्रम में भक्ति के अनेक साधनों को भी वे भक्ति के रूप में परिगणित करते हैं। नवधा भक्ति के प्रकार हैं: (१) संत का सत्संग, (२) भगवत्कथा में प्रेम, (३) गुरु-चरणों में प्रेम, (४) निष्कपट भाव से भगवत्-गुणगान, (५) राम-मंत्र का जप, (६) इन्द्रियनिग्रह, शील, अनेक कार्यों से विरति, सत्पुरुषों के समान आचरण करना, (७) समभाव से सभी को परमात्मा में ओत-प्रोत देखना और संत को परमात्मा से भी अधिक मानना, (८) यथालाभ सन्तोष, स्वप्न में भी दूसरे में दोष न देखना, (९) सरलता, कष्टरहित व्यवहार, परमात्मा पर निर्भरता और हर्षविषाद से ऊपर उठना। इन नौ में से एक भी जिसके पास हो, वह परमात्मा का विशेष प्रिय होता है।[११] भक्ति के इस व्यापक परिवेश से स्पष्ट है कि भक्ति का तात्पर्य केवल परमात्मा के चरणों में अनुराग नहीं, उन सभी साधनों

को अपनाना है, जिनसे चित्त परिष्कृत होता है। सत्संग, गुरु-चरणों में प्रेम, कथा-श्रवण, राममंत्र का जप इत्यादि साधनों से चित्त परिष्कृत होकर राम की ओर उन्मुख होता है। यथालाभ संतोष, इन्द्रिय-निग्रह तथा हर्ष-विषाद इत्यादि द्वन्द्वों से ऊपर उठने की चेष्टा से समत्व-बुद्धि उत्पन्न होती है। इनमें से एक की भी साधना भक्ति है, क्योंकि ये सभी साधन मनुष्य को ईश्वर की ओर ले जाते हैं।

भक्ति के स्वरूप के इस विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि भक्ति एक स्वस्थ जीवन-दर्शन है, जिसका लक्ष्य है लौकिक व्यवहारों में सामंजस्यपूर्ण स्थिति बनाये रखते हुए परमात्मा की प्राप्ति। भक्ति की साधना से चित्त अत्यन्त परिष्कृत हो उठता है, अतः सभी व्यक्तिगत विरोध यहाँ समाप्त हो जाते हैं। समत्व की सिद्धि से चित्त सभी विकृतियों से रहित हो उठता है। सामाजिक क्षेत्र में यह एक आदर्श स्थिति है, जिसमें निर्वैरता की अवस्था में रहकर मनुष्य अपने सामाजिक दायित्वों का निर्वाह करता हुआ अन्त में सभी सांसारिक बंधनों से मुक्त हो जाये। इस प्रकार तुलसीदास जी की भक्तिभावना में आत्म-परिष्कृति और समाज-परिष्कृति के सभी तत्त्वों का समाहार हो जाता है। यदि चित्तवृत्तियों का परिष्कार हो जाय तो सभी सामाजिक विषमताएं स्वयं समाप्त हो जायेंगी। यद्यपि भक्ति का उद्देश्य है विषयोपभोग से निवृत्ति और परमात्मा में अनुरक्ति, किन्तु संसार से पलायनवादी वृत्तियों को यहाँ कहीं प्रश्रय नहीं दिया गया। भक्ति के जिन साधनों की चर्चा तुलसीदास जी ने की है, उससे भी इसका सामाजिक पक्ष स्पष्ट हो जाता है। अरण्यकाण्ड में लक्ष्मण को भक्ति का उपदेश देते हुए भगवान राम ने निम्नलिखित साधनों की चर्चा की है—विप्र और संतों के चरणों में प्रेम, वर्णाश्रमधर्म का पालन, विषयों से वैराग्य पाने के उद्देश्य से अपने-अपने कर्मों में प्रेम, श्रवणादि नवधा भक्ति एवं राम की लीला में अनुरक्ति; काम, मद, दंभ इत्यादि का त्याग और सर्वभाव से परमात्मा का भजन।[१२] इन साधनों में वर्णाश्रमधर्म के उल्लेख से स्पष्ट है कि भक्ति में कर्म की अस्वीकृति नहीं है, यद्यपि इसका पर्यवसान विरति में होता है।

भक्ति की साधना से परिष्कृत होकर चित्त किस उच्च भूमिका में पहुँच जाता है, इसकी चर्चा वाल्मीकि द्वारा राम के निवास के लिये समुचित स्थान का संकेत करने के प्रसंग में की गयी है। भक्त काम, क्रोध, मद, मान, मोह, राग, द्वेष इत्यादि द्वन्द्वों से रहित हो जाता है। वह सबका प्रिय और सबका हित करने वाला होता है। सुख-दुःख, निन्दा-स्तुति में उसकी स्थिति समान रहती है। परस्त्री को जननी के समान परधन को महाविष के समान समझता है। दूसरे की सम्पत्ति देख कर प्रसन्न होता है और दूसरे की विपत्ति देखकर दुःखी होता है।[१३] उसकी दृष्टि इतनी व्यापक हो जाती है कि सभी में वह ब्रह्म का ही दर्शन करता है।[१४] यह समत्व की वह स्थिति है, जहाँ मानव-जीवन अपनी सार्थकता की चरम परिणति में पहुँच जाता है। इस अवस्था में उसके चित्त के समस्त उद्वेग शान्त हो जाते हैं और चित्त निष्कम्प दीपशिखा की भांति स्थिर हो हो जाता है। गीता की ब्राह्मीस्थिति यही है।

निष्कर्ष

भक्ति तत्त्व के उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि इसके माध्यम से लौकिक और पारलौकिक क्षेत्र में मानव-वृत्तियों के सामंजस्यपूर्ण विकास का प्रयत्न किया गया है। इसके द्वारा सभी आदर्श मानव-मूल्यों की रक्षा हो जाती है। मध्ययुग में इसका यह रूप अधिक स्पष्टता से सामने आता है। सामाजिक, आर्थिक तथा नैतिक दृष्टि से पतनोन्मुख युग में भक्ति को ही मानव-मूल्यों की रक्षा का साधन समझा गया।

तुलसी की भक्ति-भावना में भक्ति के इस रूप का विशेष दर्शन होता है। भक्ति के मोक्ष-प्रदायक सैद्धान्तिक विवेचन की अपेक्षा मानस में लोकपीड़ा से व्याकुल ईश्वर के करुणामय रूप का दर्शन अधिक होता है। राम के अवतार का मुख्य उद्देश्य पृथ्वी को शोषण एवं उत्पीड़न से मुक्त करना है। अवतार का कारण मानव की पीड़ा ही है। साधुओं के परित्राण के लिये, दुष्कृतों के विनाश के लिये तथा धर्म की संस्थापना के लिये वह परम सत्ता प्रत्येक युग में अवतीर्ण होती है।

लीलाविग्रहधारी राम के रूप में कवि ने लक्ष्यभ्रष्ट अपने युग के समक्ष मनुष्य का आदर्श रूप स्थापित करने की चेष्टा की है। एक आदर्श कथानक की योजना के द्वारा गोस्वामी जी ने मनुष्य को उसके पारिवारिक, सामाजिक तथा अन्य सभी प्रकार के सम्भव परिप्रेक्ष्यों में रखकर तथा अनेक प्रकार की विषम परिस्थितियों की रचना करके मानव के आदर्श स्वरूप की उद्भावना करने का प्रयत्न किया है। मध्ययुग की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों में मानव-मूल्यों की रक्षा का यह अन्यतम साधन प्रमाणित हुआ।

—अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
गणेशलाल अग्रवाल महाविद्यालय
डालटनगंज (बिहार)

सन्दर्भ :

१. सा परानुरक्तिरीश्वरे। शाण्डिल्य भक्तिसूत्र १/२
२. श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये
ते संसार पतंगघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः।
३. सुरदुर्लभ सब ग्रन्थन्हि गावा। उत्तरकाण्ड ४२/४
४. साधनधाम मोक्ष कर द्वारा। ···वही ४२/४
तथा
नरतनु भववारिधि कहँ बेरो। सनमुख मरुत अनुग्रह मेरो ॥ वही ४३/४
तथा
उत्तराकाण्ड १२०/५-६
५. उ० १२१ (ख)
६. वारि मथे घृत होइ बरु, सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरिभजन न भव तरिय, यह सिद्धान्त अपेल ॥
उ० १२२ (क)
७. उ० १०२ (ख) १-२
८. उ० १०३ (ख)
९. उ०१०३/३-४
१०. नव मँह एकहु जिन्हके होई। नारि पुरुष सचराचर कोई ॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरे। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे ॥
अरण्यकाण्ड ३५/३
११. अरण्य० १५/३-१६ दोहा
१२. अयोध्या० १२९/१-४
१३. ज्ञान मान जहँ एकौ नाहीं। ब्रह्म समान दीख सब माहीं ॥
अरण्य० १४/४

का प्रयत्न किया है।
तयों में मानव-मूल्यों की
माणित हुआ।

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
ल अग्रवाल महाविद्यालय
डालटनगंज (बिहार)

डा० वेदप्रकाश वर्मा

संकल्प की प्रतीक हेलन केलर

आदिकाल से वर्तमान युग तक मानव-जाति ने जो आश्चर्यजनक प्रगति की है, वह कुछ ऐसे स्त्री-पुरुषों के अथक प्रयास का परिणाम है जिन्होंने अपने मार्ग में आने वाली सभी प्रकार की बाधाओं तथा कठिनाइयों पर अपने अडिग साहस एवं संकल्प द्वारा विजय प्राप्त की। इन स्त्री-पुरुषों में कुछ ऐसे व्यक्ति भी हैं, जिन्हें जन्म से अथवा बाद में किसी दुर्घटना के फलस्वरूप अपनी एक या एक से अधिक महत्वपूर्ण शारीरिक शक्तियों से वंचित होना पड़ा और इसी कारण समाज में जिन्हें 'विकलांग' अथवा 'बाधित' कहा जाता है। परन्तु क्या ये व्यक्ति सचमुच 'बाधित' थे ? विश्व का गौरवमय इतिहास ऐसे अनेक तथाकथित 'बाधित' व्यक्तियों की साहसपूर्ण प्रशस्ति-गाथाओं से भरा पड़ा है जो मानव-समाज को अपनी किसी अमूल्य देन के कारण सदा के लिये इतिहास में अमर हो गये। कुछ विद्वानों का मत है कि ऋग्वेद में एक ऐसे ऋषि की ऋचाएं भी संकलित हैं, जो दृष्टिहीन थे। हम सब सूरदास के नाम से भली-भांति परिचित हैं, जिन्होंने दृष्टिहीन होते हुए भी अपने उच्चकोटि के रसमय भक्ति-काव्य द्वारा हिन्दी-साहित्य को समृद्ध किया और इसी कारण जिन्हें अनेक विद्वान 'हिन्दी-साहित्य का सूर्य' मानते हैं। वेदों और शास्त्रों के महा-पंडित तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती के गुरु स्वामी विरजानन्द भी दृष्टिहीन व्यक्ति थे, किन्तु अपने विद्वान क्रान्तिकारी शिष्य के माध्यम से उन्होंने भारत के सांस्कृतिक इतिहास पर अपना व्यापक एवं अमिट प्रभाव डाला है। यूनानी साहित्य के दो महत्वपूर्ण काव्यों—'इलियड' और 'ओडिसी' के रचयिता होमर तथा अंग्रेजी साहित्य के अमर काव्य 'पैराडाइस लौस्ट' के लेखक मिल्टन, ये दोनों ही दृष्टिहीन व्यक्ति थे जिन्होंने अपनी दृष्टिहीनता की बाधा पर विजय प्राप्त करते हुए अपनी कविता द्वारा यूनानी तथा अंग्रेजी साहित्य में अपने लिये गौरवपूर्ण स्थान बनाया। पाश्चात्य संगीत में रुचि रखने वाले लोग बिथोवन के नाम से अवश्य परिचित होंगे, जिन्होंने बधिर होते हुए भी अपनी महान संगीतकला द्वारा पश्चिमी संगीत को समृद्ध किया। इसी प्रकार रूजवेल्ट दोनों पैरों से चलने में असमर्थ थे, किन्तु वे अपने दृढ़ संकल्प तथा परिश्रम द्वारा संसार के सर्वाधिक शक्तिशाली देश अमेरिका के राष्ट्रपति बने। विश्व के दीर्घकाल के इतिहास से ऐसे

अनेक व्यक्तियों के उदाहरण दिये जा सकते हैं जो प्रारम्भ में अपनी किसी शारीरिक बाधा के कारण अशक्त समझे जाते थे, किंतु जिन्होंने अपने अदम्य साहस, संकल्प एवं धैर्य द्वारा शारीरिक बाधा पर विजय प्राप्त करके इतिहास में न केवल अपने लिये सम्मानपूर्ण स्थान बनाया, अपितु सम्पूर्ण मानव-समाज के लिये महान प्रेरणा के स्रोत भी बन गये। विश्व-विख्यात महिला कुमारी हेलन केलर की गणना भी साहस और संकल्प से परिपूर्ण ऐसे ही व्यक्तियों में की जाती है।

अमेरिका के सुविख्यात लेखक मार्कट्वेन ने हेलन केलर के महान साहस, दृढ़ निश्चय तथा अथक परिश्रम की प्रशंसा करते हुए उनकी तुलना फ्रांस के महान योद्धा नेपोलियन से की है। १९६४ में अमेरिका के राष्ट्रपति ने हेलन केलर को अपने देश का सर्वोच्च नागरिक सम्मान 'दि मैडल आफ फ्रीडम' प्रदान करके सम्मानित किया। हार्वर्ड, बर्लिन, ग्लासगो, दिल्ली आदि संसार के अनेक विश्वविद्यालयों ने उन्हें सम्मानार्थ उच्चतम उपाधियाँ प्रदान कीं। १९५५ में जब हेलन केलर भारत आयीं तो हमारे देश के तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने उनका नागरिक अभिनन्दन किया और महात्मा गांधी, फ्लोरेंस नाइटिंगेल तथा जोन आफ आर्क के साथ उनकी तुलना करते हुए कहा कि साहस एवं संकल्प की प्रतीक यह महिला सम्पूर्ण मानवता के लिये आशा और प्रेरणा की स्रोत है। अमेरिका में १९६५ में हेलन केलर की गणना विश्व की दस सर्वाधिक महान महिलाओं में की गयी। १९०२ में प्रकाशित उनकी प्रथम पुस्तक 'दि स्टोरी आफ माइ लाइफ' का संसार की पचास भाषाओं में अनुवाद किया गया और इससे लाखों व्यक्तियों को अपने जीवन में नयी आशा तथा उन्नति करने की प्रबल प्रेरणा प्राप्त हुई। स्वयं हेलन केलर ने सम्पूर्ण विश्व का भ्रमण किया और रवीन्द्रनाथ टैगोर, जवाहर लाल नेहरू, विन्स्टन चर्चिल, बर्नार्ड शा, मार्क ट्वेन आदि अनेक विश्वविख्यात महान व्यक्तियों से भेंट की। इन सभी व्यक्तियों ने उनके जीवन को मानवीय साहस एवं दृढ़ संकल्प का प्रतीक तथा अनेक प्रकार की बाधाओं से ग्रस्त सभी मनुष्यों के लिये आशा और प्रेरणा का स्रोत मानकर उनकी प्रशंसा की। ग्रोवर क्लीवलैंड से जान एफ० कैनेडी तक अमेरिका के सभी राष्ट्रपतियों ने उन्हें राष्ट्रपतिभवन में आमंत्रित करके विशेष रूप से सम्मानित किया।

कौन थीं यह हेलन केलर और मानवता के लिये क्या किया उन्होंने? वे क्यों और कैसे सभी व्यक्तियों की प्रशंसा एवं श्रद्धा की पात्र बन गयीं? संसार ने उन्हें इतना यश और सम्मान क्यों प्रदान किया? उनके जीवन की महान सफलताओं का रहस्य अन्ततः क्या था? ये हैं कुछ प्रश्न जिनका प्रस्तुत लेख में कुछ विस्तार से उत्तर देने का प्रयास किया गया है।

हेलन केलर का जन्म अमेरिका के टसकूंबिया नामक नगर में २७ जून, १८८० को एक सामान्य बालिका के रूप में हुआ था। उनके पिता आर्थर केलर एक समाचारपत्र के सम्पादक थे, जो कुछ समय तक अमेरिका की सेना में भी सेवा कर चुके थे। लगभग उन्नीस मास तक हेलन अन्य सामान्य बालिकाओं की भांति स्वस्थ, प्रसन्न तथा खेलती-कूदती रहीं। तब तक इस बालिका में कोई भी असाधारण बात दिखायी नहीं देती थी। फिर एक दिन अचानक उसे भीषण ज्वर हुआ जो कुछ दिनों तक रहा। इस तीव्र ज्वर ने नन्ही बालिका हेलन के जीवन को पूरी तरह परिवर्तित कर दिया। इसके कारण वह देखने, सुनने और बोलने की महत्वपूर्ण शक्तियों से सदा के लिये वंचित हो गयी। उसका जीवन अंधकार तथा मौन में खो गया और देखने तथा सुनने वाले संसार के साथ उसका सामान्य संबंध समाप्त हो गया। यह स्वयं हेलन और उसके सारे परिवार के लिये भयंकरतम दुर्घटना थी। इस दुर्घटना के पश्चात् हेलन देखने, सुनने तथा बोलने में पूर्णतः असमर्थ हो गयी, फलतः अपने परिवार के साथ उसका सम्पर्क-सूत्र ही टूट गया। उसके माता-पिता और परिवार के अन्य सदस्य यह समझ नहीं पाते थे कि उससे कैसे बातें करें। इस प्रकार हेलन और उसके परिवार में एक अलंघ्य खाई-सी उत्पन्न हो गयी, जिसने उसके जीवन को अनंत शून्यता से भर दिया। लगभग सात वर्ष तक यही दुःखद स्थिति बनी रही और सात वर्ष का यह समय हेलन तथा उसके सारे परिवार के

मानकर उनकी प्रशंसा की।
एफ० कैनेडी तक अमेरिका के
राष्ट्रपतिभवन में आमंत्रित
ानित किया।

और मानवता के लिये क्या
और कैसे सभी व्यक्तियों की
बन गयीं ? संसार ने उन्हें
क्यों प्रदान किया ? उनके
ाओं का रहस्य अन्ततः क्या
जनका प्रस्तुत लेख में कुछ
प्रयास किया गया है।

मेरिका के टसकूंबिया नामक
को एक सामान्य बालिका के
के पिता आर्थर केलर एक
क थे, जो कुछ समय तक
सेवा कर चुके थे। लगभग
अन्य सामान्य बालिकाओं की
ा खेलती-कूदती रही। तब तक
असाधारण बात दिखायी नहीं
इन अचानक उसे भीषण ज्वर
रहा। इस तीव्र ज्वर ने नन्ही
न को पूरी तरह परिवर्तित कर
ह देखने, सुनने और बोलने की
सदा के लिये वंचित हो गयी।
तथा मौन में खो गया और
संसार के साथ उसका सामान्य
। यह स्वयं हेलन और उसके
भयंकरतम दुर्घटना थी। इस
लन देखने, सुनने तथा बोलने में
, फलतः अपने परिवार के साथ
टूट गया। उसके माता-पिता
सदस्य यह समझ नहीं पाते थे
रें। इस प्रकार हेलन और उसके
ख खाई-सी उत्पन्न हो गयी, जिसने
न शून्यता से भर दिया। लगभग
ख्द स्थिति बनी रही और सात
लन तथा उसके सारे परिवार के

लिये बड़ा लम्बा, कठिन एवं कष्टदायक समय था। देखने, सुनने तथा बोलने में असमर्थ होने के कारण वह प्रायः चीखती-चिल्लाती रहती और उसे घर में जो वस्तु मिल जाती, उसी को वह पटक देती। उसके इस असभ्य एवं असामाजिक व्यवहार के कारण स्वयं उसे तथा उसके परिवार को बहुत उलझन और कठिनाई होती, परन्तु इस दुखद स्थिति से छुटकारा पाने का किसी को कोई उपाय नहीं सूझ रहा था। इसी समय हेलन के पिता आर्थर केलर की भेंट टेलीफोन के आविष्कारक अलेग्जेंडर ग्राहम बेल से हुई। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उस महान आविष्कारक ने एक बधिर लड़की से विवाह किया था, अतः उन्हें बधिरों की कठिनाइयों तथा समस्याओं का पर्याप्त ज्ञान था। इसी कारण आर्थर केलर ने अपनी पुत्री हेलन की समस्या के विषय में उनसे बातचीत की और उसके समाधान के लिये उनसे परामर्श मांगा। बेल के परामर्शानुसार आर्थर केलर ने बोस्टन स्थित 'परकिन्स स्कूल फॉर दि ब्लाइंड' के प्रधानाचार्य से भेंट की और हेलन की जटिल समस्या के समाधान के लिये उनसे सहायता माँगी। हेलन के सौभाग्य से उस समय इस विद्यालय में एन सलिवन नामक एक अध्यापिका थीं, जिन्होंने दृष्टिहीनों तथा बधिरों को शिक्षा देने का विशेष प्रशिक्षण प्राप्त किया था। सलिवन बाल्यकाल में स्वयं भी दृष्टिहीन थीं, किंतु पर्याप्त उपचार के पश्चात् वे कुछ सीमा तक देखने में समर्थ हो सकीं। विद्यालय के प्रधानाचार्य ने इस अध्यापिका से हेलन की सहायता करने का अनुरोध किया, जिसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया।

तीन मार्च, १८८७ का दिन हेलन केलर के जीवन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण दिन था। इसी दिन का उल्लेख करते हुए बाद में उन्होंने अपनी आत्मकथा में लिखा है, "यही दिन वास्तव में मेरा जन्म-दिन था, क्योंकि इसी दिन मेरे आत्मा का जन्म हुआ था।" हेलन केलर के जीवन में इस दिन के महत्व का कारण यह था कि इसी दिन एन सलिवन उन्हें शिक्षा देने के लिये उनके घर आयी थीं। उनका आगमन हेलन केलर के जीवन में एक ऐसी घटना थी, जिसने उनके जीवन को अंधकार और मौन की भयानक शून्यता से निकाल कर उसे प्रकाश तथा प्रगति के पथ पर अग्रसर किया। इसी कारण अपनी आत्मकथा में हेलन केलर ने इस घटना का अत्यन्त भावपूर्ण शब्दों में विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है।

जब एन सलिवन सर्वप्रथम सात वर्षीया हेलन से मिलीं तो उन्होंने देखा कि वह उद्दंड बालिका थी, क्योंकि दृष्टिहीन तथा बधिर होने के कारण उसके परिवार के लिये उसे साधारण शिष्टाचार की शिक्षा देना भी सम्भव नहीं था। इसके अतिरिक्त उसके भीतर विद्यमान शक्तियों का उचित उपयोग न हो सकने के कारण वह बहुत आक्रामक और विध्वंसक हो गयी थी। ऐसी बालिका के साथ सम्पर्क स्थापित करके उसे शिक्षा देने का कार्य निश्चय ही अत्यन्त कठिन कार्य था, जिसके लिये अपार धैर्य तथा दृढ़ इच्छाशक्ति की आवश्यकता थी। परन्तु सलिवन इस कठिनाई से विचलित नहीं हुईं और उन्होंने हेलन को शिक्षा देने का दायित्व स्वयं अपने ऊपर ले लिया। उन्हें दृष्टिहीनों की शिक्षा के लिये 'ब्रेल पद्धति' तथा बधिरों की शिक्षा के लिये 'हाथों की भाषा' का बहुत अच्छा ज्ञान था। उनका यह ज्ञान हेलन के साथ सम्पर्क स्थापित करने तथा उसे शिक्षा देने में उनके लिये बहुत सहायक सिद्ध हुआ। उनके समक्ष सबसे बड़ी समस्या यह थी कि हेलन को भाषा का ज्ञान कैसे कराया जाये। सुनने में असमर्थ होने के कारण हेलन के लिये शब्दों की ध्वनियों का कोई अस्तित्व नहीं था, अतः वस्तुओं के साथ शब्दों के सम्बन्ध से वह पूर्णतः अनभिज्ञ थी। देखने में असमर्थ होने के कारण वह दृष्टि सम्बन्धी संकेतों को भी नहीं समझ सकती थी। उसकी अध्यापिका सलिवन के लिये यह समस्या निश्चय ही अत्यन्त कठिन थी और इसका समाधान करने के लिये उन्हें बहुत कठोर परिश्रम करना पड़ा। अन्त में वे अपने धैर्य और सतत प्रयास के फलस्वरूप इस जटिल समस्या को भी हल करने में सफल हो गयीं।

हेलन ने भाषा कैसे सीखी—अर्थात् उसे सर्वप्रथम शब्दों तथा वस्तुओं के सम्बन्ध का ज्ञान कब और कैसे हुआ ? इस प्रश्न का भी हेलन केलर ने अपनी आत्मकथा में विस्तारपूर्वक उत्तर दिया है। इससम्बन्ध में

उन्होंने पांच अप्रेल, १८८७ के दिन का विशेष रूप से उल्लेख किया है। वे कहती हैं कि उस दिन वे अपनी अध्यापिका सलिवन के साथ एक उद्यान में घूमने गयी थीं। प्रातः का समय था और उद्यान में लगे एक बड़े नल में से पानी बहुत तेजी से बह रहा था। सलिवन के मन में उसे देखकर एक विचार आया, जिसे उन्होंने तुरन्त कार्यान्वित किया। उन्होंने हेलन का एक हाथ तेजी से बहते हुए उस पानी के नीचे रखा और उसके दूसरे हाथ पर अपनी अंगुलियों से कुछ संकेत बनाये। वे कुछ समय तक पहले धीरे-धीरे और फिर तेजी से उसके दूसरे हाथ पर बार-बार अपनी अंगुलियों से ये संकेत बनाती रहीं। इन संकेतों के माध्यम से सलिवन ने हेलन के हाथ पर अंग्रेजी शब्द 'वाटर' के पांच अक्षर बनाये। उनके द्वारा हेलन के हाथ पर बार-बार एक जैसे संकेत बनाये जाने के कारण हेलन को उन संकेतों तथा पानी के बीच सम्बन्ध का ज्ञान हो गया। इस ज्ञान से उसे इतनी उत्तेजना हुई कि वह उछल पड़ी। फिर उसने झुक कर धरती को छुआ, जिसका अर्थ यह था कि वह अपनी अध्यापिका से धरती के लिये प्रयुक्त होने वाले शब्द को जानना चाहती थी। उसकी इच्छा को समझ कर सलिवन ने तुरन्त उसके हाथ पर अपनी अंगुलियों से बार-बार अंग्रेजी शब्द 'अर्थ' के संकेत बनाये। इससे हेलन ने इन संकेतों तथा धरती के बीच संबंध को समझ लिया। उस दिन इसी विधि द्वारा हेलन ने तीस शब्दों का अर्थ सीखा। इस प्रकार पांच अप्रेल, १८८७ को अपनी अध्यापिका सलिवन की सहायता से हेलन ने भाषा का वह रहस्य जान लिया, जिसके द्वारा वह आगे चल कर अपने जीवन-काल में ही विश्व-विख्यात महिला बनने का महान गौरव प्राप्त कर सकी।

जब एक बार हेलन को शब्दों और वस्तुओं के सम्बन्ध का ज्ञान हो गया तो सामान्य बालकों की भांति संसार के विषय में अधिक से अधिक जानने की उसकी इच्छा अत्यन्त प्रबल हो उठी। उसने कुछ ही दिनों में सलिवन के मार्गदर्शन और सहयोग से सैकड़ों साधारण शब्दों का अर्थ जान लिया। प्रारम्भ में वह प्रत्येक शब्द को स्पर्श-विधि द्वारा उस वस्तु के साथ सम्बन्ध करके सीखती थी, जिसके लिये उस शब्द का प्रयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ—एक गुड़िया को बिस्तर पर रख कर और फिर उन दोनों का स्पर्श करके उसने 'गुड़िया बिस्तर पर है' यह वाक्य सीखा और इसका अर्थ समझा। हेलन को अन्य वस्तुओं से सम्बद्ध शब्दों का अर्थ समझाने के लिये भी सलिवन ने इसी स्पर्श-विधि का प्रयोग किया। परन्तु अमूर्त विचारों अथवा प्रत्ययों का बोध कराने वाले शब्दों का अर्थ जानने में हेलन को बहुत कठिनाई हुई, क्योंकि ऐसे शब्दों का अर्थ बताने के लिये स्पर्श-विधि का प्रयोग करना सम्भव नहीं था। 'प्रेम', 'सम्मान', 'क्रोध', 'घृणा' आदि अमूर्त शब्दों का अर्थ जानने के लिये वह किसी वस्तुविशेष का स्पर्श नहीं कर सकती थी। परंतु सलिवन ने अपनी प्रतिभा तथा सूझ-बूझ द्वारा इस जटिल समस्या को भी हल कर लिया। हेलन को प्रत्येक अमूर्त शब्द का अर्थ बताने के लिये सम्भवतः उन्होंने उसे वे परिस्थितियाँ समझायीं, जिन में उस शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस कठिन कार्य के लिये उन्हें निश्चय ही बहुत कठोर परिश्रम करना पड़ा होगा, परन्तु इस कार्य में हेलन के स्वयं अपने सतत प्रयास तथा उसकी कभी न तृप्त होने वाली ज्ञान-पिपासा से भी सलिवन को बहुत सहायता मिली। इस प्रकार लगभग अठारह मास तक धैर्य-पूर्वक निरंतर प्रयास करने के पश्चात् सलिवन हेलन को सामान्य भाषा का ज्ञान कराने में सफल हो गयीं।

परन्तु हेलन के लिये केवल भाषा-ज्ञान ही पर्याप्त नहीं था, उसे सभ्य सामाजिक व्यवहार तथा शिष्टाचार की शिक्षा देना भी आवश्यक था। अभी तक परिवार में कोई भी उसे साधारण शिष्टाचार नहीं सिखा सका था, अतः यह कठिन कार्य भी अध्यापिका सलिवन को ही करना पड़ा। उन्होंने उस पर उचित नियंत्रण रखा और धीरे-धीरे दंड तथा पुरस्कार की विधि द्वारा उसे दूसरों के साथ नम्र एवं शिष्ट व्यवहार करना सिखाया। इसके कारण उन दोनों में कभी-कभी काफी संघर्ष भी होता रहा, किंतु सलिवन ने अपना धैर्य और प्रयत्न नहीं छोड़ा। वे जानती थीं कि पिछले पांच वर्षों में हेलन बहुत हठी और उद्दंड हो चुकी है, अतः उसे सामाजिक शिष्टाचार सिखलाने

के लिये पर्याप्त धैर्य तथा प्रयास की आवश्यकता है। उन्होंने अब तक हेलन का पूर्ण विश्वास प्राप्त कर लिया था और वे 'हाथों की भाषा' के माध्यम से उसके साथ बातचीत भी कर सकती थीं। इसी कारण वे उसे सभ्य और शिष्ट बालिका बनाने के प्रयास में अंततः सफल हो सकीं।

हेलन ने जब घर में कुछ भाषा-ज्ञान प्राप्त कर लिया और साधारण सामाजिक शिष्टाचार भी सीख लिया तो उसे शिक्षा के लिये किसी विद्यालय में भेजना आवश्यक हो गया। देखने, सुनने तथा बोलने में असमर्थ होने के कारण वह अन्य बालक-बालिकाओं के साथ सामान्य विद्यालय में नहीं पढ़ सकती थी, अतः उसे बोस्टन स्थित 'परकिन्स स्कूल फार दि ब्लाइंड' में शिक्षा ग्रहण करने के लिये भेजा गया जहाँ सलिवन स्वयं भी अध्यापिका थीं। इसी विद्यालय में हेलन ने दूसरों के मुख और होठों का स्पर्श करके उनकी बात को समझना सीखा। इसे 'लिप रीडिंग' की विधि कहा जाता है, जिसका बधिर व्यक्ति दूसरों के साथ सम्पर्क स्थापित करने के लिये प्रयोग करते हैं। इस विधि के अतिरिक्त हेलन ने इस विद्यालय में ब्रेल पढ़ति भी सीखी, जिसकी सहायता से दृष्टिहीन व्यक्ति पढ़ते-लिखते हैं और जिसका आविष्कार फ्रान्स के दृष्टिहीन युवक लुई ब्रेल ने उन्नीसवीं शताब्दी में किया था। अब हेलन ब्रेल पद्धति की सहायता से अन्य बालकों की भाँति पुस्तकें भी पढ़ सकती थी। यह उसके जीवन की एक बहुत बड़ी उपलब्धि थी। कुछ समय तक 'परकिन्स स्कूल फार दि ब्लाइंड' में शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् हेलन को न्यूयार्क स्थित बधिरों के एक विद्यालय में भेजा गया, जहाँ उसने बधिरों के लिये 'हाथों की भाषा' द्वारा बधिर व्यक्तियों के साथ बातचीत करना सीखा। इस प्रकार अब हेलन दृष्टिहीनों तथा बधिरों की शिक्षा के लिये आवश्यक सभी महत्वपूर्ण विधियों से भलीभांति अवगत हो चुकी थी।

सर्वप्रथम १८९४ में चौदह वर्ष की अवस्था में हेलन ने अमेरिका के कैम्ब्रिज नामक नगर में लड़कियों के विद्यालय में प्रवेश किया। सामान्य छात्राओं के साथ शिक्षा ग्रहण करने का यह उसका प्रथम अवसर था। उसे शिक्षिकाओं के भाषण समझाने के लिये कक्षाओं में सलिवन सदा उसके साथ रहती थीं। इस प्रकार अपनी अध्यापिका के निरंतर सक्रिय सहयोग एवं मार्गदर्शन के फलस्वरूप हेलन ने इसी विद्यालय में सामान्य लड़कियों के साथ सफलतापूर्वक अपनी माध्यमिक शिक्षा समाप्त की। अब तक उसने अपनी मातृभाषा अंग्रेजी के अतिरिक्त फ्रेंच, जर्मन तथा लैटिन—ये तीन भाषाएँ भी सीख ली थीं। वह जितना अधिक अध्ययन करती, उसकी ज्ञान-पिपासा उतनी ही अधिक बढ़ती जाती थी। इसी कारण अपनी माध्यमिक शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् हेलन ने कालेज में उच्च शिक्षा प्राप्त करने का निश्चय किया। इसके लिये उसने १९०० में हार्वर्ड विश्वविद्यालय से सम्बद्ध रेड्क्लिफ कालेज में प्रवेश किया और सामान्य छात्र-छात्राओं के साथ नियंत्रित रूप से अनेक विषयों का बड़े मनोयोग से अध्ययने करने लगी। इस कालेज में भी सलिवन कक्षाओं में हेलन को अध्यापकों के भाषण समझाने के लिये सदा उसके साथ ही बैठती थीं। चार वर्ष तक हेलन ने उच्च शिक्षा के लिये इसी कालेज में परिश्रम-पूर्वक अध्ययन किया, जिसमें उसकी सहायता करने के लिये सलिवन को भी निरंतर कठोर परिश्रम करना पड़ा। अध्ययन के लिये इन दोनों महिलाओं के दृढ़ निश्चय एवं अथक प्रयास को देखकर कालेज के सभी विद्यार्थी और शिक्षक आश्चर्यचकित रह जाते थे। इस प्रकार सलिवन के सहयोग से चार वर्ष तक अध्ययन करने के पश्चात हेलन ने रेड्क्लिफ कालेज से १९०४ में बी०ए० आनर्स की परीक्षा उत्तीर्ण की। यह उसके जीवन की आशातीत सफलता थी, जिसके लिये उन दोनों ने अनेक वर्षों तक निरंतर प्रयास किया था।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि हेलन केलर विश्व की प्रथम महिला थीं जिन्होंने दृष्टिहीन तथा मूक-बधिर होते हुए भी सामान्य विद्यार्थियों के साथ कालेज में उच्च शिक्षा प्राप्त की। इसी कारण जब वे कालेज में अध्ययन कर रही थीं, तभी संसार के अनेक देशों में उनकी चर्चा होने लगी थी। रेड्क्लिफ कालेज में पढ़ते समय ही उन्होंने अपनी प्रथम पुस्तक 'दि स्टोरी आफ माइ लाइफ' लिखी थी, जो पहले 'लेडीस होम जर्नल'

में लेखमाला के रूप में और उसके पश्चात् १९०२ में पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुई। यह पुस्तक पर्याप्त समय तक चर्चा का विषय बनी रही। इस पुस्तक के साथ हेलन केलर ने लिखने का जो क्रम आरम्भ किया था, वह आजीवन निरंतर चलता रहा। उन्होंने उपर्युक्त पुस्तक के अतिरिक्त दस और पुस्तकें लिखीं, जिनमें से 'दि वर्ल्ड आइ लिव इन' 'आउट आफ दि डार्क', 'सांग आफ दि नाइटिंगेल', 'मिडस्ट्रीम—माइ लेटर लाइफ', 'पीस ऐट ईवनटाइड', 'लेट अस हैव फेथ', 'माइ रिलिजन' तथा 'टीचर' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन पुस्तकों में उन्होंने अपने जीवन की विभिन्न समस्याओं के साथ-साथ दृष्टिहीनों, बधिरों तथा अन्य बाधित व्यक्तियों की समस्याओं और उनका समाधान करने के उपायों पर विस्तारपूर्वक विचार किया है। इन्हीं समस्याओं पर वे विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में भी लेख लिखती रहीं, जिनसे लाखों बाधित व्यक्तियों को अपने जीवन में उन्नति करने के लिये नयी आशा और प्रेरणा प्राप्त हुई है। इस प्रकार हेलन केलर की रचनाएं मानवता के लिये प्रेरणा-स्रोत बनीं।

परन्तु हेलन केलर का कार्य-क्षेत्र बाधित व्यक्तियों की समस्याओं के विषय में पुस्तकें और लेख लिखने तक ही सीमित नहीं रहा। अन्य किसी भी प्रबुद्ध नागरिक की भांति वे भी विश्व की राजनीति तथा सामाजिक और आर्थिक समस्याओं में रुचि रखती थीं और इनके समाधान के विषय में गम्भीरतापूर्वक विचार करती थीं। युवावस्था में समाजवाद के प्रति उनका विशेष आकर्षण था। १९०९ में वे अमेरिका के समाजवादी दल में एक कार्यकर्त्री के रूप में सम्मिलित हुईं। उस दल के कार्यक्रम के प्रचार के लिये उन्होंने समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में अनेक लेख भी लिखे। कृषकों तथा श्रमिकों के आंदोलन में भी उनकी बहुत रुचि थी और कुछ समय तक वे इसकी सफलता के लिये सक्रिय प्रयास भी करती रहीं। समाजवाद के साथ ही लोकतंत्र का भी वे दृढ़तापूर्वक समर्थन करती थीं। विश्व की राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक समस्याओं में हेलन केलर की रुचि इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि मानव-जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण व्यापक और रचनात्मक था।

महान सफलताओं के साथ-साथ हेलन केलर के जीवन में ऐसी घटनाएं भी घटित हुईं, जिनके कारण उन्हें तीव्र मानसिक वेदना तथा घोर निराशा का सामना करना पड़ा। १९१६ में जब वे छत्तीस वर्ष की थीं तो समाजवादी विचारधारा के समर्थक पीटर फगान नामक एक युवक से उनका प्रेम हो गया था। वह युवक एक पत्रकार था और उनके अस्थायी सचिव के रूप में कार्य कर रहा था। वह हेलन केलर से विवाह करने के लिये तैयार था, अतः दोनों ने न्यायालय में जाकर विवाह का प्रमाणपत्र लेने का निर्णय कर लिया था। इसी बीच बोस्टन के एक पत्रकार को उन दोनों की योजना का पता चला और उसने उनके प्रणय क संबंध में एक पत्रिका में लेख प्रकाशित करा दिया। इस लेख से हेलन केलर की माता अत्यधिक रुष्ट हो गयीं और उन्होंने पीटर फगान को तुरन्त घर से निकल जाने तथा फिर कभी भी हेलन से न मिलने का कठोर आदेश दिया। इस प्रकार हेलन केलर के जीवन का एकमात्र प्रणय-सम्बन्ध कुछ ही क्षणों में सदा के लिये समाप्त हो गया। इस घटना से वे बहुत दुःखी और निराश हुईं। उनके अठासी वर्ष के दीर्घकालीन जीवन में उनकी वह इच्छा कभी पूरी नहीं हो सकी।

उपर्युक्त दुःखद घटना के लगभग बीस वर्ष पश्चात् एक बार फिर हेलन केलर को गहरी मानसिक वेदना तथा अत्यधिक निराशा का सामना करना पड़ा, जब १९३६ में उनकी अध्यापिका एन सलिवन का देहान्त हो गया जो लगभग पचास वर्ष तक उनके साथ रही थीं और जिनके सहयोग एवं मार्गदर्शन के कारण ही उन्होंने अपने जीवन में महान सफलताएं प्राप्त की थीं। वे हेलन केलर की अस्पष्ट और अपूर्ण भाषा को समझ कर उनके विचार दूसरों को समझाती थीं, अतः उनके बिना हेलन केलर के लिये नेत्रवान समाज के साथ सम्पर्क स्थापित करना बहुत कठिन हो गया। परन्तु शीघ्र ही हेलन केलर की एक अन्य सहायिका पोली थाम्पसन ने सलिवन का स्थान ले लिया, जिससे उनकी यह समस्या हल हो गयी। पोली थाम्पसन ने भी उनकी बहुत सहायता की। द्वितीय विश्वयुद्ध

।

साथ हेलन केलर के जीवन
हुई, जिनके कारण उन्हें
घोर निराशा का सामना
ब वे छत्तीस वर्ष की थीं
ा के समर्थक पीटर फगान
प्रेम हो गया था। वह
उनके अस्थायी सचिव के
वह हेलन केलर से विवाह
तः दोनों ने न्यायालय में
त्र लेने का निर्णय कर लिया
एक पत्रकार को उन दोनों
और उसने उनके प्रणय क
प्रकाशित करा दिया। इस
ता अत्यधिक रुष्ट हो गयीं
को तुरन्त घर से निकल
लेन से न मिलने का कठोर
हेलन केलर के जीवन का
ही क्षणों में सदा के लिये
ना से वे बहुत दुःखी और
ी वर्ष के दीर्घकालीन जीवन
पूरी नहीं हो सकी।

लगभग बीस वर्ष पश्चात्
को गहरी मानसिक वेदना
का सामना करना पड़ा, जब
का एन सलिवन का देहान्त
स वर्ष तक उनके साथ रही
एवं मार्गदर्शन के कारण ही
महान सफलताएं प्राप्त की
अस्पष्ट और अपूर्ण भाषा को
र दूसरों को समझाती थीं,
केलर के लिये नेत्रवान समाज
करना बहुत कठिन हो गया।
लर की एक अन्य सहायिका
न का स्थान ले लिया, जिससे
ही गयी। पोली थाम्पसन ने
ता की। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् जब हेलन केलर ने विश्व-भ्रमण किया तो दूसरों तक उनके विचार पहुंचाने और अन्य सभी प्रकार से उनकी सहायता करने के लिये थाम्पसन सदा उनके साथ रहीं। उन दोनों के जीवन का यह लम्बा और महत्वपूर्ण साहचर्य तभी टूटा, जब १९६० में थाम्पसन का निधन हो गया। उनके देहान्त के कारण हेलन केलर एक बार फिर अकेली रह गयीं।

जब पोली थाम्पसन का निधन हुआ, तब हेलन केलर लगभग अस्सी वर्ष की हो चुकी थीं। अपनी युवावस्था में उन्होंने अपने जीवन का जो महान उद्देश्य निश्चित किया था, उसी की पूर्ति के लिये वे अब तक निरंतर प्रयास करती रही थीं। यह महान उद्देश्य था दृष्टि-हीनों, बधिरों तथा अन्य बाधित व्यक्तियों की सभी प्रकार से यथासम्भव सेवा और सहायता करना। अपनी पुस्तकों तथा अपने लेखों और भाषणों के द्वारा उन्होंने सभी बाधित व्यक्तियों को यथासम्भव आत्म-निर्भर होकर समाज के विकास में अधिकाधिक योगदान करने की प्रेरणा प्रदान की, जिससे वे समाज की दया के पात्र बने रहने के स्थान पर उप-योगी एवं सम्मानपूर्ण जीवन व्यतीत कर सकें। एन सलिवन तथा पोली थाम्पसन की सहायता से सारे संसार का भ्रमण करके उन्होंने बाधित व्यक्तियों की सेवा और सहायता के लिये धन एकत्र किया। दृष्टि-हीनों तथा बधिरों के लिये कार्य करने वाली अनेक संस्थाओं को वे सदैव अपना उपयोगी परामर्श और मार्गदर्शन देती रहीं। उनका अपना सम्पूर्ण जीवन सभी बाधित व्यक्तियों के लिये महान प्रेरणा का स्रोत बन गया था।

हेलन केलर के व्यक्तित्व की सब से बड़ी विशेषता थी जीवन के प्रति उनका स्वस्थ और रचनात्मक दृष्टिकोण। सदैव प्रसन्नचित्त रहना तथा भविष्य के प्रति आशावादी होना वे जीवन के विकास के लिये अनिवार्य मानती थीं। अपनी बाधाओं तथा सीमाओं से भली भांति अवगत होते हुए भी उन्होंने उन बाधाओं एवं सीमाओं को सदा एक चुनौती के रूप में स्वीकार किया और उन पर विजय प्राप्त करके अपने जीवन के विकास के लिये उनसे प्रेरणा ग्रहण की। यही उनकी सफलताओं का रहस्य है। हेलन केलर के सम्पर्क में जो भी व्यक्ति आया, वह उनके इस दृढ़ संकल्प और अदम्य साहस से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। अपने इसी साहस और संकल्प के कारण वे अपने जीवन-काल में ही विश्व-विख्यात हो गयी थीं। जब अठासी वर्ष की आयु में एक जून, १९६८ को हेलन केलर का निधन हुआ तो संसार के सभी देशों में उन्हें अत्यंत भावपूर्ण श्रद्धांजलियाँ अर्पित की गयीं। वस्तुतः जिस प्रकार हेलन केलर ने अजेय प्रतीत होने वाली बाधाओं पर अपने अदम्य साहस और दृढ़ संकल्प द्वारा विजय प्राप्त की, उसका उदाहरण मानवता को नयी आशा तथा प्रेरणा प्रदान करता रहेगा।

—दर्शनशास्त्र विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

धर्मसत्य और जीवनमृत्यु

महाभारत युद्ध में कर्ण के प्रहारों से आहत युधिष्ठिर को उनका सारथी युद्धभूमि से हटाकर विश्रामगृह में ले गया। अर्जुन और श्रीकृष्ण ने यह समाचार सुना तो भीमसेन से कर्ण और कौरव-सेना को रोके रखने का आश्वासन पाकर वे दोनों युधिष्ठिर को देखने गये। उनके इस प्रकार युद्ध के बीच से चले आने पर युधिष्ठिर को भ्रम हुआ कि कर्ण मारा जा चुका है। उन्होंने अर्जुन के पराक्रम की भूरि-भूरि प्रशंसा करके पूछा कि कर्ण को तुमने कैसे मारा? जब अर्जुन ने वस्तुस्थिति बतायी तो युधिष्ठिर को बड़ी निराशा हुई और क्षुब्ध होकर वे अर्जुन को बार-बार धिक्कारने लगे तथा भीम को संकट में अकेला छोड़कर भयवश भाग आने के लिये प्रताड़ित करते हुए कहा कि अपना गाण्डीव धनुष तुम किसी और को दे दो। इतना सुनकर अर्जुन ने तलवार निकाल ली। अनिष्ट की सम्भावना देखकर श्रीकृष्ण ने इसका कारण पूछा तो अर्जुन ने कहा—मैंने प्रतिज्ञा की थी कि जो भी मेरे बल का तिरस्कार करते हुए मुझसे गाण्डीव को छोड़ देने के लिये कहेगा, उसका मैं शिर काट डालूंगा। अब मुझे अपना वचन पूरा करना है।

तब भगवान कृष्ण बोले कि सत्य से बढ़कर कुछ नहीं, परन्तु उसके वास्तविक स्वरूप को समझना आवश्यक है। वचन का पालन सत्य धर्म की रक्षा के लिये किया जाता है, अधर्म के लिये नहीं। जिस वचन को सत्य बनाने के लिये दुष्कर्म करना पड़े, उसे असत्य ही रह जाने देना कर्तव्य है। दुष्प्रतिज्ञा का मूल्य तो कुछ है नहीं, फिर भी तुम्हारी प्रतिज्ञा को बिना अधिक दोष के पूरा करने का उपाय भी मैं बताता हूं। संसार में माननीय व्यक्ति का जीवन तभी तक सार्थक है, जब तक उसका सम्मान बना हुआ है। अपमानपूर्वक जीवित रहते हुए उसे मरा ही मानना चाहिए। अतः यदि तुम युधिष्ठिर को अपशब्द कहकर उनका अनादर कर दो तो तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी हो जायेगी।

इस पर अर्जुन ने युधिष्ठिर को जुआरी, कायर, दूसरों के पराक्रम से रक्षित होने वाला आदि अपशब्द कहे और एक लम्बी सांस लेकर पुनः तलवार उठा ली। यह देखकर श्रीकृष्ण ने पूछा—अर्जुन! अब क्या हुआ? तो अर्जुन बोले कि अब मैं बड़े भाई का अपमान करने के पाप का प्रायश्चित अपना वध करके करूँगा। श्रीकृष्ण बोले—रुको, आत्महत्या घोर पाप है और अपनी प्रशंसा स्वयं ही करने वाला भी मरे के समान होता है, अतः यह प्रायश्चित करने के लिये अब तुम अपनी प्रशंसा करो। तब अर्जुन ने कुछ देर अपनी वीरता का बखान किया और फिर लज्जित होकर अपने व्यवहार के लिये युधिष्ठिर से क्षमा मांगी।

डा० चन्द्रशेखर डी० लिट०

मध्ययुगीन संत्रास : सूर की भूमिका

मध्ययुगीन संत्रास को एक पौराणिक बिंब से प्रत्यक्ष करने में सुविधा रहेगी। वह बिंब है तक्षक-दंश का, जिसे पाते ही परीक्षित की अकाल मृत्यु हुई और कलियुग का तुरन्त आगमन हुआ। हिन्दी-साहित्य के इतिहास के प्रारम्भिक चरण में विदेशी आक्रांताओं के पदाक्रमण तक्षक के विषदंश सी मृत्युमुखी सांहारिक परिणतियाँ रोपित कर गये। इस देश के परीक्षित घटक ने अभिशप्त होकर अनिवार्य विस्थापन पाया। तब आरम्भ हुआ निरन्तर आक्रमणों का वह बर्बर अमानुषिक क्रम,जो कई शताब्दियों तक इस देश की सभ्यता-संस्कृति, कला-दर्शन को ध्वस्त करता रहा, जो इस कलियुग के चक्राकार मूल्यसंक्रमण को उत्तरोत्तर गतिमान बनाता गया।

हिन्दी-साहित्य की प्रारम्भिक पाँच-छह शताब्दियाँ इस मूल्य-संक्रमण के लौहरथ-चक्र को अपने वक्ष पर मार्ग देती रही हैं। इतिहासकारों की धारणा है कि उत्तरी भारत पर प्रत्येक पाँच वर्ष बाद एक आक्रमण का औसत बैठता है और प्रत्येक आक्रमण में इस भूखंड को दो-दो बार पददलित होना पड़ा है। इस अनवरत पदाक्रमण, पददलन से जुड़े हैं युद्ध के तीन आयाम—युद्धपूर्व आतंक, युद्धकालीन विध्वंस और युद्धोत्तर संत्रास। इन स्थितियों की व्याख्या यहाँ प्रासंगिक नहीं होगी। प्रासंगिक है इनकी वह भूमिका, जो मध्ययुगीन संत्रास को घनीभूत करती रही है। पदाक्रांत उत्तरी भारत में युद्ध के ये तीनों आयाम शताब्दियों पर्यन्त समानांतर बने रहे। यहाँ बराबर युद्धपूर्व आतंक का शीत ज्वर-प्रकंपन फैला रहा, बराबर युद्धकालीन विध्वंस के ताण्डवी चरण संहार-नर्तन करते रहे और बराबर यहाँ युद्धोत्तर विषम संत्रास प्रसारण पाता रहा। इन युद्ध-आयामों की इतनी दीर्घ समानांतरता विश्व-इतिहास में अन्यत्र अनुपलब्ध है।

विगती के पूर्वार्द्ध में यूरोप ने केवल दो विश्व-युद्धों के विषदंश पाये। दोनों युद्धों की अवधि एक दशक से अधिक नहीं पड़ती है। युद्धपूर्व आतंक, युद्धकालीन विध्वंस और युद्धोत्तर संत्रास की उतनी दीर्घ समानांतरता भी नहीं है। परन्तु जो विषम परिणतियाँ यूरोप के जनजीवन को ध्वस्त कर गयी हैं, उनके अनुपात में उत्तरी भारत में युद्ध के इन तीनों चरणों से परिव्याप्त

विकरालता का अनुमान किया जा सकता है। विक्षिप्त, विकलांग, रुग्ण यूरोप, जहाँ नैतिक मानमूल्यों के सभी चैत्य ध्वस्त हो गये, ईश्वरीय अस्तित्व के स्तूप खंड-खंड हो गये, मानवीय अस्तित्व की गरिमा धूलिसात हो गयी, निरन्तर मृत्युसंत्रास ने जिजीविषा, युयुत्सा की भ्रूणहत्या कर डाली और यूरोप को दिया 'मैन्सु-राइस्ड' चीथड़ों सा घृणित जीवन, जिसे बराबर मिलते गये—उत्क्लेश, वमनेच्छा, अमुखर उदासी, अपरिचय, एकांत आत्मनिर्यातन, आत्मविभाजन, आत्मविच्छेदन के कषाघात। यूरोप की पीठ इनसे बुरी तरह छिल गयी है।

भारतवर्ष का मध्ययुगीन संत्रास—कई शताब्दियों की शिराओं में, पोर-पोर में, 'रक्त कैंसर' की तरह फैला हुआ संत्रास—यूरोप के उपर्युक्त संत्रास से शताधिक भयावहता लिये हुए था। केन्द्रीय राज्यसत्ता का विकेन्द्रण, अन्य शक्ति-शिविरों का विस्थापन, जनजीवन की धुरीहीनता, अक्षविच्युति तथा सांस्कृतिक, दार्शनिक और धार्मिक धरातल पर अपनी संपूर्ण मानसिक अपराजेयता के उपरान्त भी एक परास्त भावना का जन्म, सामान्यजन का पक्षाघात में आना और फिर उत्तरोत्तर 'मूच्छा' में रुक जाना, ये परिणतियाँ मध्य-युगीन भारी अवमूल्यन से जुड़ी हैं। इस संपूर्ण मूल्य-भ्रंशता का विषपान करने के लिये ही भक्ति-आन्दोलन जनमंगल का संकल्प लेकर उपस्थित हुआ। इस दृष्टि से भक्ति-आन्दोलन एक विषपायी कंठ है। इसी बिंदु पर मध्ययुगीन संत्रास यूरोप के आधुनिक संत्रास से प्रस्थान पाता है। भारत के मध्ययुगीन संत्रास ने जन-कल्याण से प्रतिश्रुत भक्ति-आन्दोलन का प्रवर्तन किया, जबकि यूरोप का इस शताब्दी का संत्रास ऐसे किसी भी मानव-मंगलमूलक और व्यापक अभियान को इतनी क्षिप्रता से प्रवर्तित नहीं कर पाया है। भक्ति-आन्दोलन मध्ययुगीन सागरमंथन से प्राप्त एक अमृतकुंभ, पीयूषघट—सुधाकलश था, जिसने मानवीय अस्मिता को रचनात्मक आरक्षण के कवच-कुंडल और विकल्प प्रदान किये, जबकि यूरोपीय संत्रास ने वहाँ के समानांतर व्यक्ति को एक भयंकर विकल्प-हीनता में औंधे मुंह पटक दिया है।

मध्ययुगीन संत्रास में सूर की भूमिका की रंग-राशियों को कोई दृश्यबंध प्रदान करने से पूर्व यह अनिवार्य हो जाता है कि सूर के पूर्वकालिकों और समकालिकों की भूमिकाओं का उत्खनन किया जाये और उनकी रचनात्मक भंगिमाओं को परख लिया जाये।

मैंने अभी निवेदन किया है कि भक्तिकाल मध्ययुगीन संत्रास की नागमुद्राओं और सर्प-फूत्कारों पर छोड़ा गया एक सशक्त गारुडी मंत्र था। इसके प्रथम महान मंत्रवेत्ता थे महात्मा कबीर। कबीर के साक्षात्कार उन दिशाओं से प्राप्त हैं, जहाँ युद्ध-संत्रास निरन्तर गहरा रहा था। कबीर को वहाँ से वह मृत्युबोध प्राप्त हुआ, जिससे हँसती कलियों में, किल्लोलरत लहरियों के बुदबुदों में, मुस्कुराते नक्षत्रों में, वन-उपवन के तरुवर में—सर्वत्र मृत्यु-विभीषिका की सांहारिक भंगिमाएं दृष्टिगत होती हैं। मानवीय अस्तित्व की यह क्षणभंगु-रता—संशयग्रस्त अनिवार्य त्रासदी—पूर्वोक्त युद्धस्थितियों की ही एक दुष्परिणति थी। कबीर इस धरातल पर निर्गुणिया बने, परन्तु इसकी दिशाहीनता से वे पुनः सगुण भूमि पर पलटते लगते हैं। इस संत्रास से मुक्त होने के लिये वे अपने ब्रह्म से दांपत्यमूलक संबंध परिकल्पित करते हैं। मिलन के धरातल पर वह 'दुलहनिया' का 'राजाराम भर्तार' बन जाता है और विरह के आकुल क्षणों में आँखों को निरन्तर अश्रुस्रवण का अभिशाप दे जाता है। इन संबंधों के माधुर्य से कबीर ने युग-संत्रास के कालिय-दंश की मर्मान्तिपीड़ा से बचने का विकल्प अन्वेषित किया है, परन्तु वे सर्वांशतः पुनः सगुणमूलक नहीं बन पाये हैं। उनकी अन्तिम सीमा है 'मोती'—मोती कुत्ता, जिसके गले में उसके राम की 'जेवड़िया' है। कबीर इससे आगे नहीं जा पाते। इसी धरातल से वे मध्ययुगीन संत्रास का साक्षात्कार पाकर उसे चुनौतियाँ देते हैं और अपने समसामयिक समाज को अनेक विकल्पद्वार भी निर्दाशत करते हैं।

जायसी का युग-संत्रास-दर्शन इसी धरातल का होते हुए भी अपनी अलग आचरणगत पहचान रखता है। सूफी-दर्शन की एक केन्द्रीय मुद्रा है विद्रोह—धर्म के क्षेत्र में पुस्तक और व्यक्ति-केन्द्रित होने की अपरिहार्य विडंबना के विरुद्ध विद्रोह। कोई धर्म-ग्रन्थ अन्तिम नहीं, कोई धर्मगुरु अन्तिम नहीं। यह एक

ने से पूर्व यह अनिवार्य हो
लिकों और समकालिकों की
ा जाये और उनकी रचना-
लिया जाये ।

कि भक्तिकाल मध्ययुगीन
र सर्प-फूत्कारों पर छोड़ा
त्र था । इसके प्रथम महान
। कबीर के साक्षात्कार उन
द्ध-संत्रास निरन्तर गहरा
से वह मृत्युबोध प्राप्त हुआ,
, किल्लोलरत लहरियों के
ों में, वन-उपवन के तरुवर
ा की सांहारिक भंगिमाएं
य अस्तित्व की यह क्षणभंगु-
त्रासदी—पूर्वोक्त युद्धस्थि-
ति थी । कबीर इस धरातल
सकी दिशाहीनता से वे पुनः
ते हैं । इस संत्रास से मुक्त
ह्य से दांपत्यमूलक संबंध
मिलन के धरातल पर वह
भर्तार' बन जाता है और
ाओं को निरन्तर अश्रुस्रवण
इन संबंधों के माधुर्य से
ालिय-देश की मर्मान्तिपीड़ा
क्षेपित किया है, परन्तु वे
नहीं बन पाये हैं । उनकी
—मोती कुत्ता, जिसके गले में
है । कबीर इससे आगे नहीं
वे मध्ययुगीन संत्रास का
ीतियां देते हैं और अपने
नेक विकल्पद्वार भी निर्दशित

र्शन इसी धरातल का होते
चरणगत पहचान रखता है ।
केन्द्रीय मुद्रा है विद्रोह—
और व्यक्त-केन्द्रित होने की
विरुद्ध विद्रोह । कोई धर्म-ग्रन्थ
गुरु अन्तिम नहीं । यह एक

अविराम प्रक्रिया है । किसी पुस्तक को अन्तिम मानने की त्रासदी होगी स्वतंत्र चिन्तन का प्रतिबंधन, और किसी व्यक्ति को अन्तिम व्यक्ति मानने का दुःखांत होगा स्वतन्त्र व्यक्तित्व-विकास की दिशाओं का बलात् निषेध । ये दोनों विडंबित स्थितियाँ मानवीय अस्मिता पर आक्रमण हैं । इसी धरातल पर सूफी दर्शन भारतीय दर्शन से जुड़ जाता है । यह कोई पैगंबराना फतवा नहीं, पर एक बात अवश्य ही दावे से निवेदित है कि भारतीय दर्शन-चिन्तन अपने समस्त आचरण में विश्व का सर्वोपरि गणतंत्र है । स्वतंत्र चिंतन और उसकी स्वतंत्र अप्रतिबंधित अभिव्यक्ति की जितनी छूट इसने प्रदान की है, उतनी विश्व-दर्शन में अन्यत्र नहीं है । सूफी दर्शन स्वतंत्र चिंतन के लिये दंडित भी हुआ और अपने देश से निर्यातित भी । अन्ततः उसे शरण मिली है यहां के उदारमना चिंतन में ।

जायसी ने अपौराणिक भारतीय आख्यानों के माध्यम से अभारतीय (अहिन्दू) दर्शन की अभिव्यक्ति में अपनी निर्गुणमूलकता को सगुण बनाया है । निर्गुण रह कर वे युग-संत्रास का सामना नहीं कर पाये । वे भी कबीर की भांति लौटे हैं—सगुणता की ओर । कबीर ने दांपत्यमूलक संबंध ही परिकल्पित किये थे, परन्तु जायसी ने और आगे बढ़ कर उन संबंधों को लंबे कथा-प्रसंगों के ठोस और प्रत्यक्ष आधार दिये । रत्नसेन और पद्मावती के मिलन-प्रसंगों की प्रेम-माधुरी से उन्होंने अपने युग की दारुण व्यथा का हरण करने के प्रशस्य प्रयत्न किये हैं ।

निर्गुणमूलक आंदोलनों के संदर्भ में, जहाँ उनकी सीमाएं स्पष्ट हो जाती हैं वहाँ, एक बात अतीव निर्विवाद भंगिमा में उपस्थित होती है कि सगुणात्मक होकर उस युग-संक्रमण में अत्यधिक सशक्त सेतु-स्तंभों की रचना की जा सकती थी । तुलसी और सूर की सेतुरचना इसी निर्विवाद भूमिका पर होती है ।

तुलसी का बहुआयामी समन्वय एक विराट् सेतुबन्ध है, युगसंक्रमण के ज्वार पर, मूल्य-स्फीति—मूल्य-आस्फालन—के आन्दोलित पारावार पर एक विशाल सेतु-रचना है, परंतु इस संपूर्ण मांगलिक अनुष्ठान में वे निरंतर हनुमान के धरातल पर करबद्ध खड़े हैं—दक्ष की मुद्रा में । सामाजिक संरचना में तुलसी का सेतु-निर्माण भक्ति-आंदोलन में सर्वाधिक सशक्त माना जा सकता है, परन्तु वह अपने संपूर्ण जनकल्याणी सरोकार के उपरान्त भी वह वातायन नहीं खोल सका, जो मुक्त सांस के लिये मुक्त पवन, मुक्त किरण की व्यवस्था कर सके । समाज के प्रत्येक घटक के लिये आदर्श मंगलकुंकुम से शोभित कलश तो तुलसी ने दिये, परंतु वह सहज, आत्मीय और अनौपचारिक धरातल वे नहीं प्रस्तुत कर पाये जहाँ उपास्य से उपासक की सीधी, अप्रतिबंधित पहुंच हो ।

सूर की भूमिका इसी दिशा की है । वे अपनी संत्रस्त दयनीय स्थिति से उत्तरोत्तर मध्यस्थ-निरपेक्षता की ओर अग्रेषण पाते गये और उन दिशाओं का उद्घाटन करते गये, जहाँ उपास्य सर्वथा अभयप्रद मुद्रा में सीधे और तुरंत आपकी पहुंच में है ।

सूर की भूमिका की चर्चा से पूर्व उस मनोवैज्ञानिक धरातल पर जाना उचित होगा, जहाँ सूर ने एक व्यापक प्रयोग से पूर्व एक प्रामाणिक आत्म-प्रयोग किया था, जिसमें उन्होंने पूर्ण आत्मविरेचन पाया था; एक ऐसा आंतरिक प्रक्षालन पाया था, जो उनके समस्त दैन्य और कुंठाओं को विकुंठ कर उन्हें वैकुंठी भूमिका प्रदान कर गया । सूर का वैकुंठी अभियान और उनकी वैकुंठी यात्रा इसी धरातल से समारंभ पाती है ।

इसी धरातल पर आविर्भूत हुए थे महाप्रभु वल्लभाचार्य, अपने युग के अनन्य समाजशास्त्री और युगद्रष्टा । मूल्य-संक्रमण से विषु-मूर्च्छित, संज्ञाशून्य समाज को नव प्राण-चेतना देने के लिये उन्होंने पुष्टिमार्ग की प्रवधारणा प्रस्तुत की । उनके मनोवैज्ञानिक निदान की वह अमृत संजीवनी थी । वह ऐसा मार्ग था जो समाज के प्रत्येक घटक को स्वस्थ एवं शुद्ध पवन प्रदान करने का आश्वासन देता था । युग-संत्रास से प्रदूषित पर्यावरण को निर्दोष करने का वह एक संकल्प था; एक विनियोग था हमारी शिरा-शिरा में संचरित रक्त के शोधन का । एक अधुनातन अर्थ में वह उस युग का 'डायलिसिस' उपचार था ।

महाप्रभु वल्लभ ने सूर पर यह प्रयोग किया। तब सूर क्या थे ? कैसे थे ? वे मध्ययुगीन संत्रास के घनीभूत साकार पिंड थे। युगहीन्य, युगदैन्य, युगत्रास उनमें संकलनत्रय बन चुके थे। आत्मतुच्छता, लघुता, क्षुद्रता में घिघियाते सूर की त्रासदी उस व्यक्ति की सी थी, जिसके पैरों में सोजिश हो, रक्त-कोशिकाओं में शोथ हो, वृक्क निष्क्रिय हो चुके हों और जिसे निरंतर उबकाई, वमनेच्छा हो रही हो। सूर स्वयं में उस कुंठित युग का 'एक्सरे चित्र' हो चुके थे। पुष्टिमार्ग के 'डायलिसिस' पर वे चढ़ते हैं और पाते हैं नया शुद्ध रक्त, नये संस्कार, नये संकल्प, नयी युयुत्सा एवं तितिक्षा, नयी दीक्षा एवं नयी दिशा।

इस 'डायलिसिस' से उतर कर सूर ने पाया कि सृजन-धर्म नये दायित्व से जुड़ गया है। उन्हें एक संविधान मिल गया था; मानवमंगल का व्याकरण मिल गया था। यह नया अनुशासन था पुष्टिमार्ग। मार्ग तो मिला और उत्तराधिकार में मिला संपूर्ण मार्ग का मानचित्र। जनकल्याणी अभियान को एक संघटनमूलक व्यक्तित्व और योजनाबद्ध आचरण मिल गया। यह सब दिया महाप्रभु के उत्तराधिकारी पूज्य-पाद श्री विट्ठल ने। सूर इस अभियान में अग्रणी थे और उसके परिचालन में नाभिकेन्द्र पर थे। इस प्रकार वे एक संविधान, अनुशासन एवं दलबद्ध व्यक्तित्व का आचरण लेकर पूरे समाज के रक्त-शोधन एवं वायु-शोधन के लिये आगे आते हैं।

इस प्रसंग में एक प्रश्न उठाया जा सकता है—क्या सूर का अभियान सर्वथा संप्रदायानुशासित था ? क्या वह पूर्वनियोजित नीतियों के अनुरूप था ? या उसमें सूर की कोई मौलिक भूमिका भी थी ?

यह प्रश्न आगामी चर्चा में उठाया जा रहा है। मैं प्रारंभ में ही यह निवेदन करना चाहूंगा कि सूर का संपूर्ण काव्यात्मक आचरण और उनका रचनाव्रत अपने समग्र प्रसार में पुष्टिमार्ग और अष्टछाप के संस्कारों के अनुरूप होते हुए भी अपनी पहचान की ऐसी अनेक मौलिक भंगिमाएं प्रस्तुत करता है जो उसे अन्य पुष्टिमार्गीय कवियों के रचनाधर्म से अलगाते हैं।

सूर प्रतिबद्ध थे पुष्टिमार्ग के संकल्पों से, परन्तु उनकी काव्यात्मक परिकल्पनाएं, काव्यात्मक अनुदन उनका सर्वांशतः निजी था। उनकी स्थितियों, प्रसंगों, संबंधों की अवधारणा नितांत मौलिक थी। यही कारण है कि उनका भ्रमरगीत, बाललीला-वर्णन, रासलीला-वर्णन अन्य अष्टछाप बन्धुओं से अपनी अलग इयत्ता रखते हैं। अतः उनकी कोई दर्शन एवं चिंतनगत देन भले ही न हो, किन्तु अभिव्यक्ति के स्तर पर वे नवीन, स्वच्छ एवं मौलिक हैं।

विश्व की सभी धर्मसाधनाओं की भूमिकाओं में उनके उपास्य या तो भयप्रद मुद्रा में अवतरित हुए हैं या अंतिम व्यक्ति बन कर आरोपित हो चुके हैं या फिर वे अपने उपासक से दूरस्थ बने चले आ रहे हैं।

पुष्टिमार्ग इन सभी प्राचीरों को ध्वस्त कर एक ऐसे उपास्य को प्रस्तुत करता है, जिसकी कुल मुद्राएं साधनाक्षेत्र में अपूर्व, अनन्य और अनुपलब्ध हैं; जो अपने कुल आचरण में मौलिक, मानवीय, सहज और अनौपचारिक है। दर्शन, अध्यात्म और धर्मसाधना के क्षेत्र में यह अद्वितीय अवतरण था।

सूर के कृष्ण ही वे अपूर्व उपास्य थे। सूर ने सर्वप्रथम हमें यह मूलभूत अधिकार दिया कि हम अपने उपास्य के निकट जाकर समता के विशुद्ध मानवीय धरातल पर उसका साक्षात्कार पायें, उससे एक सहज संवाद स्थापित कर सकें और उसके समवयस्क बन कर उसकी लीलाओं में बराबर के भागीदार बन सकें। इतना ही नहीं, उसकी वरेण्यता को भूल कर उसे अपने धरातल पर उतार लायें; उसकी कुलगोत्र की श्रेष्ठता से सर्वथा अनजान होकर उसे अपने सामान्य संगी मित्र का व्यवहार दें। सम्बन्धों में इतनी अनौपचारिकता कि हम अपने उपास्य की एकांतक्रीड़ाओं के विश्वासपात्र सखा, बन्धु बन जायें और इससे बड़ा अधिकार—स्वयं में उपास्य का अनुभव, स्वयं का अपने उपास्य में स्थानांतरण ! एक ऐसा मौलिक अधिकार—अपने उपास्य में स्वयं को अनुभव कर उसकी प्रिय भूमिकाओं से उसी भाव में जुड़ने का अधिकार ! यह अधिकारदान स्थायी रूप में समाज के सभी घटकों को, बिना किसी वर्णभेद के प्रदान

किया गया। जो भी व्यक्ति जब भी चाहे अपने कृष्ण की लीलाओं की रसबंती भूमिका में निस्संकोच उतर सकता है।

मध्ययुगीन संत्रास की प्रदीर्घ हिमपात-रात्रि में विरक्त और वीतराग, मृत्युमुखी मानसिकता को युयुत्सा के साथ अनुबंधित करने के लिये सूर ने मधुमय मंच की रचना की। ऐसा मंच, जहाँ निरंतर आनन्द की रसवर्षा होती है, अव्याहत मधुस्रवण होता है, काम-कुंठाएं विमोचन पाती हैं, युग-युग की मानसिक कोष्ठ-बद्धता विरेचन पाती है। जहाँ अपने उपास्य से सायुज्य पाकर प्रत्येक भागीदार स्वयं में राधाकृष्ण को आविर्भूत हुए पाता है। सम्बन्धों का इतना विशद उदात्तीकरण कि जनमानस में कमल खिल उठे; एक बार पुनः जीवन जीने की लालसा, जीवन से जुड़ने की उद्दाम कामना, जीवन को उसकी सहज, अविकल और मौलिक मुद्रा में ग्रहण करने की उत्कट अभिलाषा जाग उठी। तब जीवन रेखांकित हो उठा था। उसकी अस्मिता को उसका मूल अर्थ मिल गया था। उसकी गरिमा-गंध पूरे परिवेश में गमक उठी थी। उस हिमपात-रात्रि में भी कामनाओं के केदारकुंज खिल उठे थे।

सूर के आनंदरूप, रसेश, साक्षात् रसस्वरूप कृष्ण को पाकर युगदैन्य का कुहासा छिन्न-भिन्न हो गया; मृत्युसंत्रास तिरोहित हो गया; विस्थापित, विकेन्द्रित समाज को नये अक्ष, नयी धुरियाँ, नये नाभिकेन्द्र मिल गये थे; तक्षक-दंश का विष-प्रभाव निःशेष होने लगा था।

सूर-काव्य की इसी भूमिका से "कृष्णस्तु भगवान् स्वयं" की उद्भावना बहुआयामी प्रसार पाती है; भारत की संपूर्ण मानसिकता, लालित्य कृष्णमय हो जाते हैं। सभी ललित कलाओं में कृष्ण ही कृष्ण! लोकतत्त्व से लेकर परिनिष्ठित अभिजात तक कृष्ण ही कृष्ण!

संपूर्ण युग-संक्रमण का एक रचनात्मक विकल्प थे कृष्ण, चक्राकार मूल्यस्फीति और मूल्यभ्रंशता में एक सहज मानवीय सेतुबन्ध थे कृष्ण और उनमें प्रस्तोता थे महात्मा सूर—पुष्टिमार्ग और अष्टछाप की अवधारणाओं, संकल्पनाओं को मौलिक रंगराशियों में रूपांतरण देने वाले विश्वबंद्य सूर।

—हिन्दी विभाग, पंजाबी विश्वविद्यालय,
पटियाला (पंजाब)

बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यम्

एक बार देवों और ऋषियों में इस प्रश्न पर मतभेद हो गया कि वेदों में 'अज' के द्वारा यज्ञ करने का जो निर्देश है, उसमें अज का अर्थ क्या है ? देव कहते थे कि अज का अर्थ छाग (बकरा) होता है, अतः छाग के द्वारा ही यज्ञ करने का निर्देश है। इसका विरोध करते हुए ऋषियों ने कहा—यज्ञों में बीजों के द्वारा यजन करना चाहिए, यही वैदिकी श्रुति है। बीजों की ही अज संज्ञा है, छाग का वध करना अनुचित है। जहाँ पशु का वध हो, वह सत्पुरुषों का धर्म नहीं है। इस श्रेष्ठ कृतयुग में पशुवध कैसे किया जा सकता है ?

बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः।
अजसंज्ञानि बीजानि च्छागं नो हन्तुमर्हथ ॥
नैष धर्मः सतां देवा यत्र वध्येत वै पशुः।
इदं कृतयुगं श्रेष्ठं कथं वध्येत वै पशुः ॥
(महाभा० शा० प० ३३७/४-५)

उसी समय अपने तपोबल से आकाश में चलने वाले राजा वसु आते दिखायी दिये। देवों और ऋषियों ने उन तपोधन को अपने विवाद का निर्णायक बनाया। राजा वसु ने पूछा कि किसका पक्ष क्या है ? और जब उन्हें ज्ञात हुआ कि देवगण "अजेन यष्टव्यम्" का अर्थ छाग से यज्ञ करना बताते हैं तो राजा ने उनका पक्ष लेते हुए कहा दिया कि छाग से यजन करना ही निर्दिष्ट है। इस जानबूझकर किये गये अनृत पक्षपात से क्षुब्ध होकर ऋषियों ने कहा—राजन् ! यदि तुमने वेदविरुद्ध बात कहकर देवों का पक्ष लिया है तो अब तुम्हारी आकाश में चलने की शक्ति नष्ट हो गयी है। तुम हमारे शाप से नीचे गिरकर पृथ्वी को छेदते हुए उसमें प्रविष्ट हो जाओगे और यदि हम वेदविरुद्ध बात कहते हैं तो हमारा पतन हो जायेगा।

ऋषियों के इतना कहते ही वह आकाशचारी राजा पतित होकर पृथ्वी के छिद्र में चला गया।

डा० रामकृष्ण सारस्वत

औद्योगिक नगर तथा भारतीय नगरीकरण

भारतवर्ष ग्रामीण अंचल में स्वच्छंद प्रकृति की सुरम्य ओढ़नी ओढ़े हुए एक कृषि-प्रधान देश रहा है, जिसके लगभग ८० प्रतिशत देशवासी अब भी ग्रामीण कहलाते हैं। परन्तु विश्व के इतिहास में सभ्यता का गोमुख नगरों के विकास और उनकी निहित विशेषताओं में रहा है। आधुनिक इतिहासकार हमारी सभ्यता का श्रीगणेश भी सिंधुघाटी-सभ्यता के प्रतीक-स्तम्भ मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की शिल्पकला-कृतियों के रूप में निर्धारित करते हैं, परन्तु यह यहाँ नहीं भूलना चाहिए कि विश्व की मूल-विकसित नगर-सभ्यता में मोहनजोदड़ो और हड़प्पा ही प्राचीनतम प्रमुख नगरों में माने गये हैं। इसी प्रकार यूरोपीय संस्कृति का मूल स्रोत भी नील नदी की सभ्यता एवं मूल नगर रूप में मैसोपोटामिया की संस्कृति से उद्भूत बताया गया है।

यदि हम वैदिक इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों का अवलोकन करें तो हमें ज्ञात होता है कि यदि ऋग्वेदकाल में नगर की 'पुर' संज्ञा थी तो विख्यात व्याकरणाचार्य पाणिनि ने उसे 'नगर' और बृहत्ता के आधार पर 'महानगर' तथा बड़े नगर की शाखा के रूप में विकसित नगरीय समुदाय को 'शाखानगर' की संज्ञा दी है। कहने का तात्पर्य है कि संस्कृति एवं सामाजिक जीवन के विकसित केन्द्र-बिन्दु 'नगर' ही कहे गये हैं। ऐसा इसलिये कि 'गाँव' जहाँ सीमित एवं एकाकी रूप में कृषि-प्रधान जीवन का परिचायक रहा है, वहीं 'नगर' एक बृहद् सामाजिक जीवनकी विभिन्न संस्कृतियों का संगमस्थल रहा है, जहाँ अनेकानेक आर्थिक, व्यावसायिक आकर्षणों एवं सुरक्षा तथा समस्त जीवनोपयोगी सुख-सुविधाओं का केन्द्र होने के कारण देश के विभिन्न भागों के मनुष्यों का आवागमन होता रहा है तथा जहाँ विभिन्न भाषाओं, धर्मों, रीति-रिवाजों एवं त्यौहारों की समन्वित विविधता की अपनी एक अनूठी विशेषता रही है।

यह शंका बार-बार मस्तिष्क में प्रश्न-चिह्न बनाती है कि कभी विश्व की संस्कृति का सिरमौर कहा जाने वाला भारतवर्ष आज अविकसित एवं पिछड़ा देश क्यों कहा जाता है ? क्या ऐसा इसलिये कि विकसित जीवन के प्रतीक 'नगरों' का विकास आज के भारत में विश्व

के अन्य देशों की अपेक्षा कहीं कम है ? यद्यपि अपने देश की कुल नगरीय जनसंख्या इंगलैण्ड कनाडा, फ्रांस, जापान, बर्मा, नेपाल, लंका तथा पाकिस्तान इत्यादि राष्ट्रों में से किसी की भी पूरी जनसंख्या से अधिक है, किन्तु विश्व के विभिन्न देशों के नगरीय जीवन के प्रतिशत आंकड़ों पर दृष्टिपात करें तो स्थिति स्वत: स्पष्ट हो जाती है। कनाडा में नगरीय जनसंख्या ७३.५८% तो फ्रांस में ६६.६७% है। इसी प्रकार जापान में ६८.०६% तो सोवियत संघ में ५५.८५% है। इतना ही नहीं, छोटे से अरब गणराज्य भी भारत-वर्ष से आगे हैं। अरब में नगर-निवास ४१.६४% है तो भारतवर्ष में केवल १६.८७%। भारतवर्ष की अपेक्षा और अधिक पिछड़े कहे जाने वाले देशों की स्थिति में लंका १८.८७% तथा पाकिस्तान १३.५७% आते हैं।

तदनुसार विकसित नगरीय संस्कृति का यही अन्तर-राष्ट्रीय मानदण्ड भारतवर्ष के विभिन्न राज्यों की नगरीय वस्तुस्थिति से परिलक्षित होता है। महाराष्ट्र सबसे अग्रणी रूप में ३१.२०%, तत्पश्चात् तमिलनाडु ३०.२८%, गुजरात २८.१३% तथा पश्चिमी बंगाल और कर्नाटक २५-२५% नगरीय जीवन के परिचायक हैं तो वहीं पिछड़े और अविकसित कहे जाने वाले राज्यों की स्थिति में हिमाचल प्रदेश ७.०६%, उड़ीसा ८.३%, आसाम ८.४%, नागालैण्ड ६.६% तथा बिहार १०.०% हैं।

भारतवर्ष का सबसे बड़ी जनसंख्या वाला राज्य उत्तर-प्रदेश विश्व के अनेक राष्ट्रों—जैसे कि पाकिस्तान, अरब, बर्मा, नेपाल, इजराइल, लंका इत्यादि से बड़ा है, किन्तु उसका भी नगरीय जनसंख्या-प्रतिशत केवल १४.०% है, जिसमें केवल २६३ नगर हैं, जबकि तमिलनाडु में ४४३ नगर हैं। आज देश के कुल नगरों की संख्या केवल २६२१ है, जिनमें प्रथम श्रेणी के अर्थात् एक लाख या अधिक जनसंख्या वाले नगर केवल १४२ हैं। १६८ द्वितीय श्रेणी के नगर जिनकी जनसंख्या ५०,००० या इससे अधिक है, ६१७ तृतीय श्रेणी के नगर जिनकी जनसंख्या २०,००० या अधिक है, ६३१ नगर चतुर्थ श्रेणी के जिनकी जनसंख्या १०,००० या अधिक है, ५००० या अधिक जनसंख्या वाले पांचवीं श्रेणी के ७५६ तथा छठी श्रेणी के ५,००० जनसंख्या से कम वाले २७७ नगर भारतीय जनगणना-आख्या द्वारा पंजीयित किये गये हैं।

अब एक मूल प्रश्न उठ खड़ा होता है कि भारतीय नगरीकरण-प्रक्रिया का वास्तविक स्वरूप क्या है ? क्या हम समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से भारतीय नगरों को अन्य विदेशी नगरों की समकक्षता में मूल नगरीय विशेषताओं से सम्पन्न मान सकते हैं ? उदाहरणार्थ—'नगर क्षेत्र' कहलाने हेतु जहाँ भारतीय जनगणना के अनुसार जनसंख्या का आधार ५००० और उसका ३/४ भाग अकृषिकर व्यवसाय में माना गया है, वहाँ जापान में ३०,००० जनसंख्या का आधार रखा गया है। यह भी स्पष्ट है कि भारतवर्ष ग्रामों का देश है, जहाँ की लगभग ८०%जनसंख्या ग्रामीण कहलाती है। तो क्या यह स्वाभाविक नहीं होगा कि नगरों में रहने वाली लगभग २०% जनसंख्या पर भी ग्राम्यत्व का प्रभाव पड़ता हो और एक अच्छा प्रतिशत जन-समूह ग्रामीण तथा नगरीय दोनों ही समुदायों में अपना प्रतिनिधित्व रखते हों ? यदि हम भारतीय नगरों की भौतिक रचना तथा उनके विकास-क्रम (इकोलोजीकल इवोल्यूशन) की पृष्ठभूमि में झांकते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय नगरीकरण की प्रकृति ग्राम्य नगरीय (फौक अरबन) जीवन की सम्मिलित झांकी है जहाँ बहुधा नगर-निवासी ग्राम एवं नगर के दोनों ही समुदायों में अपना एक-एक पैर फँसाये रहते हैं, अर्थात् नगर में रहते हुए भी वे अपनी जन्म-भूमि के ग्राम्य जीवन से भी सम्बन्ध बनाये रखते हैं और इधर सामाजिक-आर्थिक प्रतिष्ठा के प्रतीक नगरों में भी प्रश्रय लिये हुए होते हैं, जहाँ उन्हें जीवनोपयोगी अनेकानेक सुख-सुविधाएं एवं सुरक्षा मिली हुई होती है। वे विशेष उत्सव, त्यौहार, खेती की देखभाल, छोटे-मोटे व्यापार तथा लेन-देन हेतु गांवों में आते-जाते हैं और निरन्तर सम्पर्क बनाये रहते हैं। इसके अतिरिक्त कुटुम्ब के कुछ सदस्य भी गाँव में बने रहते हैं। श्रमिक वर्ग का भी यही हाल है, जो कि अधिकांशत: ग्रामीण होते हैं और मौसमी श्रमिक (सीजनल लेबर) के रूप में जब गांव में जीवकोपार्जन के साधन नहीं मिल पाते

०० या अधिक जनसंख्या
५६ तथा छठी श्रेणी के
ाले २७७ नगर भारतीय
ोषित किये गये हैं।

ा होता है कि भारतीय
स्तविक स्वरूप क्या है ?
ष्टिकोण से भारतीय नगरों
समकक्षता में मूल नगरीय
सकते हैं ? उदाहरणार्थ—
हाँ भारतीय जनगणना के
ाधार ५००० और उसका
ाथ में माना गया है, वहाँ
संख्या का आधार रखा गया
ारतवर्ष ग्रामों का देश है,
संख्या ग्रामीण कहलाती है।
हीं होगा कि नगरों में रहने
संख्या पर भी ग्राम्यत्व का
क अच्छा प्रतिशत जन-समूह
ोनों ही समुदायों में अपना
यदि हम भारतीय नगरों की
क विकास-क्रम (इकोलोजीकल
में झाँकते हैं तो यह स्पष्ट
नगरीकरण की प्रकृति ग्राम्य
जीवन की सम्मिलित झाँकी
ासी ग्राम एवं नगर के दोनों
एक-एक पैर फँसाये रहते हैं,
र भी वे अपनी जन्म-भूमि के
न्ध बनाये रखते हैं और इधर
ष्ठा के प्रतीक नगरों में भी
हैं, जहाँ उन्हें जीवनोपयोगी
एं एवं सुरक्षा मिली हुई होती
ौहार, खेती की देखभाल, छोटे-
दिन हेतु गांवों में आते-जाते हैं
नाये रहते हैं। इसके अतिरिक्त
भी गाँव में बने रहते हैं। श्रमिक
है, जो कि अधिकांशतः ग्रामीण
श्रमिक (सीजनल लेबर) के रूप
पार्जन के साधन नहीं मिल पाते

हैं तो निकट के नगर में आ जाते हैं, या प्रातःकाल मजदूरी हेतु नगर में आये और सायंकाल घर-गाँव को लौट गये। गाँव में जन्मे नौकरी व्यवसाय वाले लोग भी नगर में नौकरी अवश्य करते हैं, परन्तु स्थायी सम्बन्ध अपनी जन्म-भूमि गांवों से रखते हैं जहाँ परिवार के अन्य सदस्य—मां, बाप, भाई इत्यादि रहते हैं। अतः वही गांव-नगर के बीच आवागमन बना रहता है जिसे समाजशास्त्री 'रूरल अरबन कन्टीन्युअस प्रोसेस' की संज्ञा देते हैं। अतः भारतीय नगर जीवन अपनी पूर्णता को प्राप्त न कर ग्राम्य जीवन से प्रभावित रहता है। यहाँ दोनों ही समुदायों में आचार-विचार, कला-संस्कृति, धार्मिक तथा सामाजिक मान्यता, उत्सव एवं त्यौहार इत्यादि एक दूसरे को प्रभावित करते हैं, उदाहरणार्थ ब्रज प्रदेश के कुछ नगर—नन्दगाँव, बरसाना, गोवर्धन इत्यादि न तो गाँव ही हैं और न नगर, बल्कि ग्राम्य नगरीय समुदाय (फौक अरबैनाइज्ड कम्यूनिटीज) के रूप हैं। देश में ऐसे दो-चार नहीं, अनेक उदाहरण हमें देखने को मिलते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी एक महत्वपूर्ण बात है कि हमारे देश में विदेशों की तरह मध्य नगरीय (मिडिल टाउन्स) विकास और उनके अध्ययन की प्रवृत्ति है ही नहीं, जिसके फलस्वरूप जन-जीवन का समुचित विकास न होकर जो वर्तमान नगर हैं उन्हीं का दिनोंदिन विकास एवं फैलाव होता रहता है और वस्तु स्थिति में हम उसी परम्परागत जन-जीवन की अविकसित अवस्था में पड़े हुए हैं, उदाहरणार्थ—दिल्ली का विकास न केवल नयी दिल्ली तक हुआ, वरन आज वह फरीदाबाद, बल्लभगढ़, गाजियाबाद तक मिली चली जा रही है। इसी प्रकार आगरा, कानपुर कलकत्ता, बम्बई आदि महानगरों में समीपवर्ती ग्राम, नगर समाते जा रहे हैं।

जब ग्राम एवं नगर के बीच आवागमन की प्रवृत्ति स्थानांतरण की स्थायी विशेषताओं—'आकर्षण एवं धकेल' (पुल एण्ड पुश माइग्रेशन) के अनुरूप नगर-जीवन में स्थायित्व एवं फैलाव की प्रवृत्ति बनकर जन-जीवन में जाग्रत हो जाती है तो वह नगरीय जीवन में एक विषम एवं विचित्र परिस्थिति पैदा कर देती है जिसे सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री एन० वी० सोवन्नी ने अपनी पुस्तक 'अरबैनाइजेशन एण्ड अरबन इण्डिया' में एक नये विचार के रूप में 'ओवर अरबैनाइजेशन' की संज्ञा दी है। अर्थात् किसी नगर में ग्रामों तथा विभिन्न दूरस्थ स्थानों से अत्यधिक व्यक्ति व्यावसायिक आकर्षणों एवं जीवनयापन हेतु एकत्रित हो जाते हैं तो उद्योगों एवं जनसंख्या में मांग-पूर्ति के आधार पर एक असंतुलन पैदा हो जाता है। अति नगरीकरण (ओवर अरबैनाइजेशन) की स्थिति के फलस्वरूप अन्य भी अनेकानेक नगरीय समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं, जैसे कि गन्दी बस्तियों का जन्म, अराजकता एवं अपराध-प्रवृत्तियों का बाहुल्य, दरिद्रता, रोग निम्न-जीवन स्तर इत्यादि-इत्यादि, जो कि मानवता के अभिशाप हैं। किसी भी बड़े नगर के सामाजिक अध्ययन से हम यह पता लगा सकते हैं। वैसे यह प्रवृत्ति विश्वव्यापी स्तर पर है, केवल भारतवर्ष तक ही सीमित नहीं।

नगर-विकास के हेतु एवं उपादान

एक प्रश्न उठता है कि विगत समय में नगरों की उत्पत्ति एवं विकास का हेतु क्या रहा है ? निश्चय ही किसी भी देश की संस्कृति तथा समाज की बदलती हुई परिस्थितियाँ उसके आन्तरिक विकास-क्रम का मानदण्ड बनती हैं, जैसा कि अपने देश भारतवर्ष की भूमिका में यह स्पष्ट हो जाता है :

१. धार्मिक स्थल

भारतवर्ष के इतिहास से यह स्पष्ट है कि यह एक आध्यात्मिक दृष्टिकोण-प्रधान देश रहा है, अतः धार्मिक विश्वासों और मान्यताओं के आधार पर पवित्र स्थलों का जन-मानस पर विशेष प्रभाव रहा है। इन धार्मिक स्थलों पर विभिन्न आकर्षणों से देश के विभिन्न स्थानों से आकर लोग एकत्रित होने लगे और वह जन-समूह विभिन्न संस्कृतियों का संगम बन कर एक 'नगर' के रूप में विकसित होने लगा, जैसे कि मथुरा, वृन्दावन, वाराणसी, उज्जैन, प्रयाग तथा अयोध्या इत्यादि।

२. शिल्पकला-केन्द्र

इसी प्रकार संस्कृति के अन्य उपादानों, जैसे—कला-

कृतियों एवं शिल्प-कलाओं के केन्द्र भी नगरों के रूप में विकसित हुए।

३. प्रशासनिक केन्द्र

भारत में 'वीरभोग्या वसुंधरा' की मान्यता रही है, अतः अनेकानेक राज्य यहाँ बने और बिगड़े; राजा, बादशाह आदि स्वदेशी एवं विदेशी शासक आये और गये। उनकी इच्छाएँ और प्रशासनिक नीति भी नये नगरों को जन्म देने में सहायक हुई। उनकी जहाँ सैनिक छावनियाँ, राजधानियाँ और यहाँ तक कि किसी गांव या क्षेत्र में क्षेत्रीय प्रशासनिक एवं सैनिक गतिविधियों के केन्द्र बने, वहीं 'नगर' विकसित हो गये, उदाहरणार्थ—आगरा के पास फतेहपुर सीकरी, जयपुर के पास आमेर, भरतपुर के पास डींग एवं कामा, मथुरा के पास छाता इत्यादि। कहने का तात्पर्य है कि बड़े- बड़े राज्यों की राजधानियों या गढ़ों के अतिरिक्त छोटे-छोटे राजाओं, नवाबों, ताल्लुकेदारों के 'बाड़े' भी 'नगरों' के रूप में विकसित हुए, जिसके उदाहरण मुगलकालीन इतिहास और रजवाड़ों की गाथाएँ हैं, जैसे—रोहतासगढ़, चुनार इत्यादि। अतः जहाँ भी प्रशासनिक, सैनिक तथा कूटनीतिक दृष्टि से स्थानों की उपयुक्तता प्रतीत हुई, वहीं नगरों का विकास हो गया।

४. व्यापारिक केन्द्र

व्यापार में प्राकृतिक साधनों की उपयोगिता भी नगरों के विकास का प्रमुख कारण रही है। नदियों के किनारों पर बसे प्रमुख व्यापारिक नगर इसी श्रेणी के उदाहरण हैं, जैसे—सूरत, कानपुर, अहमदाबाद तथा आगरा इत्यादि।

इस प्रकार स्वतन्त्रता से पूर्व की बेला तक नगरों के विकास का एक संक्षिप्त चित्र उपस्थित होता है। द्वितीय महायुद्ध से स्वतन्त्रता मिलने तक के समय में नगरों का विकासक्रम मंथर गति में रहा, क्योंकि राजनीतिक उथल-पुथल और जनतंत्रवादी आन्दोलनों की प्रमुखता ने राजतंत्र एवं साम्राज्यवादी योजनाओं को गौण बना दिया था, परन्तु स्वतन्त्रता के बाद यह क्रम जनजीवन के केन्द्रीयकरण (पोलीन्यूक्लिएशन) की दिशा में चल पड़ा। छोटे-छोटे नगरों की सीमाएँ बढ़ने लगीं, जिसके प्रमुख कारण मानव का नगर के प्रति आकर्षण, व्यावसायिक बाहुल्यता, सुरक्षा एवं जनकल्याणात्मक सुविधाएं रही हैं।

५. नगरीय विकास-क्रम का आधुनिक स्वरूप

परन्तु जैसा कि परिवर्तन प्रकृति का अवश्यम्भावी नियम है और समय की गति गहन है, परिस्थितियों के अनुसार विकास-क्रम में भी मोड़ आया। जनसंख्या-वृद्धि के कारण बढ़ते बोझ और उत्पादन के प्राकृतिक उपादानों की सीमितता तथा आक्रान्ताओं के शोषण-कारी शासन द्वारा देश की जर्जर एवं क्षीण हुई आर्थिक दशा ने समाज के अध्यात्मवादी दृष्टिकोण में भौतिकवादी मोड़ ला दिया, जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण स्वतंत्रता के उपरान्त बढ़ते हुए औद्योगिक नगरों का विकास है। जहाँ पहले धार्मिक, सांस्कृतिक, प्रशासनिक एवं व्यापारिक मानदण्डों की प्रमुखता थी, वहाँ अब कारखानों की स्थापना हेतु खनिज भंडार-केन्द्रों, विशाल खुले भूखण्ड आदि को प्रमुखता दी जाने लगी। आज आणविक युग में औद्योगिक रूप में मानव इतना सक्रिय हो गया है कि जंगली पशुओं की कन्दराएँ भी विद्युत्-प्रकाश में औद्योगिक नगर-स्थलियाँ बन गयी हैं, जिनके सजीव उदाहरण हैं—रेणुकूट का एल्यूमीनियम कारखाना, देश के विकास-स्तम्भरूप इस्पात नगरियाँ भिलाई, राउरकेला एवं दुर्गापुर, रेलवे कारखाना चितरंजन इत्यादि।

आज के भौतिकवादी वातावरण में औद्योगिक विकास ही किसी भी देश की उन्नति एवं विकास का मान-दण्ड है, क्योंकि आज बढ़ती हुई जनसंख्या की आवश्य-कताओं की पूर्ति-हेतु प्राकृतिक साधन सीमित और अपर्याप्त होते चले जा रहे हैं और मानव को कृत्रिम साधनों पर आवश्यक रूप से आश्रित होना पड़ रहा है तथा इसलिये किसी भी देश में औद्योगिक विकास को ही प्रमुखता दी जा रही है। कुछ राष्ट्र तो ऐसे हैं जो औद्योगिक उपादानों से ही आज विकसित देशों की गिनती में सर्वप्रथम गिने जाते हैं, जैसे कि ब्रिटेन

तथा जापान ।

आज भारतवर्ष की औद्योगिक नीति में भी इस ओर पर्याप्त ध्यान है । देश के निर्जन वनों में, जहाँ कभी कोई विकास की क्षीण आशा भी नहीं कर सकता था, आज आधुनिक औद्योगिक प्रतिष्ठानों के कारण गगन-चुम्बी चिमनियां, सुन्दर बाजार तथा आधुनिक भवनों की परिधि में औद्योगिक नगर स्थापित किये जा रहे हैं । विकास-योजनाओं में अधिकाधिक प्रयत्न किये जा रहे हैं कि प्रतिष्ठान वहाँ स्थापित हों, जहाँ अविकसित, असभ्य वनवासी समाज रहता है तथा उस अंधकारपूर्ण वातावरण को जन-जीवनोपयोगी बनाकर विकास की रश्मियों से भर दिया जाय । इसका प्रत्यक्ष उदाहरण उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले में रिहन्द क्षेत्र का औद्योगिक जीवन एवं वहाँ उभरते हुए चूर्क, डाला, ओवरा तथा रेणुकूट औद्योगिक नगर हैं, जहाँ कभी जंगल और जंगली जन्तुओं एवं वनवासियों का अविकसित क्षेत्र था । इसी प्रकार भिलाई, राउरकेला एवं दुर्गापुर इत्यादि के उदाहरण देखने को मिलते हैं ।

नगरीय विकास-क्रम हेतु कुछ सुझाव

(अ) आज आवश्यकता इसी बात की है कि परम्परागत नगर-विकास-प्रवृत्ति को अधिक प्रमुखता न देकर अछूते, अंधकारयुक्त जंगलों में खनिज-केन्द्रों एवं अविकसित जनजातीय केन्द्रों पर औद्योगिक प्रतिष्ठान लगाये जायँ, जिससे वहाँ का जनजीवन २०वीं शताब्दी की सभ्यता में सम्मिलित हो सके और वह समाज अपने अविकसित, असभ्य, आदिम जातीय संज्ञा के कलंक को धो सके, जिसकी कि जनसंख्या २,९८,३७,००० है और वह देश की कुल जनसंख्या के ६·८१ प्रतिशत का प्रतिनिधित्व करता है ।

(ब) साथ ही, किसी नगर विशेष को अधिकाधिक बृहद् आकार में विकसित न कर मध्यम नगर (मिडिल टाउन्स) की स्थापना की जाय, अर्थात् केन्द्रीयकरण (पोलीन्यूक्लिएशन) के स्थान पर विकेन्द्रीयकरण (मल्टीन्यूक्लिएशन) की प्रवृत्ति को अधिकाधिक बढ़ावा दिया जाय, जिससे उनके आसपास का क्षेत्र विकास की ओर अग्रसर हो सके । यह पहले ही कहा जा चुका है कि नगर विभिन्न संस्कृतियों का वह संगम-स्थल है, जहाँ उन्नति एवं विकास की चहुँमुखी दिशाएँ केन्द्रित होती हैं और जन-जीवनोपयोगी सभी सुविधाएँ उपलब्ध होती हैं ।

(स) यदि विकास की वास्तविक रूपरेखा का यथार्थ परिणाम देखना हो तो निश्चित् रूप से आवागमन हेतु यातायात के साधनों और सड़कों का निर्माण करना होगा, अर्थात् अविकसित ग्रामीण अंचलों को विकसित नगर-केन्द्रों से जोड़ने हेतु सड़कों का जाल बिछाना होगा, जिससे सामाजिक गतिशीलता (सोसल मोबिलिटी) एवं उत्पादन में तीव्र गति आ सके और जनजीवन विकास की हर दिशा में प्रगति-पथ पर अग्रसर हो सके, अन्यथा विकास की मन्थर गति न जाने कब तक अपने देश को अविकसित कहलाती रहेगी । सड़क-यातायात के साधन और औद्योगिक प्रतिष्ठान ही भौतिक विकास के स्वप्न को यथार्थ में परिणत कर सकेंगे । यही वे आधारभूत उपादान हैं, जो देश की भौतिक प्रगति और विकास के दिशा-सूचक हैं ।

तात्पर्य यह है कि आज नगर-जीवन औद्योगिक विकास-क्रम की प्रतिच्छाया है; जहाँ भी औद्योगिक प्रतिष्ठान स्थापित होंगे, वहीं नगर विकसित हो जायेंगे । आज औद्योगिक विकास ही किसी देश के विकास का मानदण्ड माना जाता है और यही कारण कि यूरोपीय देशों की तुलना में, जिनसे हमारा देश औद्योगिक दौड़ में पीछे है, आज हमें अविकसित देश की संज्ञा मिली हुई है । आज परम्परागत धार्मिक, सांस्कृतिक, प्रशासनिक मान्यताएँ गौण होती जा रही हैं और नवीन भौतिकवादी दृष्टिकोण औद्योगिक विकास के रूप में प्रगति का मानदण्ड बन रहा है । अतः समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से औद्योगिक नगरों का समुचित अध्ययन प्रगति के बढ़ते हुए पगों की व्याख्या ही नहीं, वरन् एक नये सामाजिक जीवन की झांकी भी प्रस्तुत करेगा ।

प्राचार्य, श्री ब्रजबिहारी महाविद्यालय,
कोसीकलां (मथुरा), उ० प्र०

मातृका-रहस्य

स्कन्दपुराण में एक कथा है कि एक ब्राह्मण वेद-वेदांगों का अध्ययन पूरा कर लेने के बाद भी विद्यानुरागवश ब्रह्मचर्याश्रम में ही रहते हुए नाना शास्त्रों और विद्याओं के अध्ययन में लगा रहा। इकतीस सहस्र वर्षों तक अध्ययन करने के बाद जब वह अपने ज्ञान से सन्तुष्ट हो गया, तब उसने गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया।

उस प्रथाह विद्यानिधान ब्राह्मण का एक पुत्र हुआ, जिसे शिक्षा देने का कार्य उसने स्वयं संभाला, क्योंकि उसे सन्तुष्ट कर सकने वाला अन्य कोई विद्वान तो मिलना भी कठिन था। बालक ने मातृकाओं (स्वर-व्यंजन) को तो बड़े मनोयोग से सीखा, परन्तु उसके बाद कितना ही पढ़ाने पर भी वह कुछ पढ़ता नहीं था। तब एक दिन वह ब्राह्मण बोला—वत्स ! पढ़ो, पढ़ो। तुम पढ़ोगे तो मैं तुम्हें मिठाई दूंगा और नहीं पढ़ोगे तो तुम्हारे क न उखाड़ लूंगा। पुत्र ने कहा—पिताजी ! क्या मिठाई पाने के लिये ही पढ़ा जाता है ? विद्या तो वह है जो मुक्ति दिलाने वाली हो। अपने छोटे से पुत्र की इस बात से आश्चर्यचकित होकर ब्राह्मण बोला—तुम बातें तो विद्वानों जैसी करते हो, पर पढ़ते क्यों नहीं ?

पुत्र बोला —पिताजी ! आपने इकतीस सहस्र वर्षों तक नाना शास्त्रों में उलझकर केवल भ्रम की ही साधना की है। जो जानने योग्य था, वह तो मैंने बावन मातृकाओं में ही जान लिया, तो अब और कंठ किसलिये सुखाया जाय ? इस बात से आश्चर्यचकित हो ब्राह्मण ने पूछा —मातृकाओं से तुमने क्या जाना ?

पुत्र बोला —चौदह स्वर ही चौदह मनु हैं (जो समस्त मानव-समुदाय का नियमन करते हैं), क से ह तक के तैंतीस व्यंजन क्रमशः बारह आदित्य, ग्यारह रुद्र, आठ वसु और दो अश्विनीकुमारों के द्योतक हैं (जो सम्पूर्ण सृष्टि का नियमन करते हैं), अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय मातृकाएँ क्रमशः जरायुज, अंडज, स्वेदज और उद्भिज—इन चार प्रकार के जीवों को द्योतित करती हैं तथा ओंकार में सृजन, पालन और संहार के देवाधिदेव अनुस्यूत हैं। अब भला इन बावन मातृकाओं को जान लेने के बाद सीखने के लिये क्या रह गया है ?

सत्यपाल शर्मा

भारतीय वाङ्मय में कर्मविपाक, भाग्यवाद और पुरुषार्थ

भाग्य बलवान है अथवा पुरुषार्थ, इस प्रश्न पर तुरन्त कोई दो टूक निर्णय दे देना बड़ा कठिन है। दुर्बलता के क्षणों में मनुष्य भाग्यवादी बन जाता है और पुरुषार्थ का अनादर करने लगता है। भावना के आवेश में भी कई बार वह भाग्य का ही पक्षपोषण करता है। परन्तु प्रकृतिस्थ होने पर जब उसकी विचार-शक्ति पुनः प्रबल होने लगती है तो वह अपने साथ घटी घटनाओं के कारणों की खोज प्रारम्भ कर देता है। कुछ लोग अपने दुष्कर्मों की कारणता जानबूझ कर भाग्य या दैव के मत्थे मढ़ देते हैं और इस प्रकार अपने आप को निरपराध सिद्ध करने का प्रयत्न करते है। अनजाने में कोई निषिद्ध कर्म हो जाने पर भी दिष्ट पर ही दोषारोपण किया जाता है। दैवी विपत्तियों के विषय में भी हमारा यही मत होता है, यद्यपि इनसे बचने के उपाय हमारे हाथ में रहते हैं।

आदिम मानव-समाज बड़ा श्रमशील और पुरुषार्थी था, परन्तु भाग्य के प्रति उसकी आस्था बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। बौद्धिकता के विकास से उसमें आत्म-विश्वास की वृद्धि हुई और वह दैव की अपेक्षा पुरुषार्थ पर अधिक विश्वास करने लगा। अपना भाग्यविधाता स्वयं होने का विश्वास जड़ पकड़ने लगा, परन्तु इस सबके उपरान्त भी भाग्य के भूत ने उसका पीछा करना छोड़ा नहीं। पुरातन यूनान के लोग बौद्धिक गुणों तथा वस्तुगत दृष्टि के रहते हुए भी भाग्य में गहरी आस्था रखते थे। रोमन साम्राज्य में वेतनभोगी सरकारी दैष्टिकों और भविष्य-वक्ताओं की भरमार थी। यूनानी लोग पुनर्जन्म में आस्था न रखने के कारण दिष्ट से कर्मों का सम्यक समायोजन न कर पाये, अतः भाग्य उनके लिये एक अज्ञात, अतर्क्य सत्ता ही बना रहा। वे मनुष्य को दैव के क्रूरतापूर्ण और प्राणांतकारी प्रहारों के सामने असहाय और निरीह मानते थे। यही कारण है कि उनके साहित्य में दुःखान्त रचनाओं की प्रधानता पायी जाती है, यद्यपि यूनानी साहित्यकारों ने दैव को नैतिकता के साथ जोड़ते हुए यह अवश्य ही प्रतिपादित किया है कि अपने वर्तमान जीवन में मनुष्य अपने अनैतिक और अमानवीय व्यवहारों से दुर्भाग्य को स्वयं निमन्त्रण देता है। ट्रोजन युद्धों में भाग लेने वाले योद्धा रोग-शय्या पर पड़े अपने सबसे बड़े धनुर्धर को उसके भाग्य के सहारे छोड़कर आगे बढ़

जाते हैं और परिणाम होता है उनकी अभूतपूर्व पराजय। बाद में यूनानी सेनाओं की ओर से दूत बनकर आया मृदुभाषी, विवेकशील सेनानायक यूलिसिज उस वीर पुरुष को प्रसन्न करता है और फिर मानो उसी का वरदान पाकर यूनानी सेनाएं विजय पर विजय प्राप्त करती चली जाती हैं।

भारतीय दृष्टिकोण

भारत में अत्यन्त प्राचीन काल में भी दिष्ट या दैव इतना अतर्क्य और कल्पनातीत नहीं माना गया था कि लोग उसके कृपाप्रसाद के याचक बने हाथ पर हाथ रखे बैठे रहते और उसकी विनाशलीला को एकान्त-समर्पण की भावना से स्वीकार करते चले जाते। उपनिषदों में तो दिष्ट का संकेत तक नहीं मिलता, वरन् यहां तो मनुष्य के कर्तृत्व को ही जीवन का नियामक तत्त्व बताया गया है। छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि "मनुष्य जब कर्म की ओर अग्रसर होता है तो उस में निष्ठा का जन्म होता है (और वह सहज स्वस्थ जीवन जीने लगता है), अतः कृति अथवा कर्तृत्व को जानने का प्रयत्न करना चाहिए"।[६] जीवन वस्तुतः वही है, जो हम अपने कर्म से अर्जित करते हैं।[७] उपनिषदों के तत्त्वद्रष्टा मनीषी कर्मप्रधान जीवन में ही सब लोकों को समाहित हुआ मानते हैं। "मनुष्य अपने कर्म से ही इस लोक को देवलोक, पितृलोक तथा अन्य अनेक प्रकार के लोकों में परिणत कर देता है। यज्ञादि से वह इसे देवलोक, स्वाध्याय से ऋषिलोक, पिण्डदान-सन्तानोत्पादनादि से पितृलोक तथा मनुष्यों को भोजन, आवास आदि देने से इसे मनुष्य-लोक बना देता है।[८] ईशावास्योपनिषद् में कर्म करते हुए ही सौ वर्ष तक जीने की कामना करते हुए कहा गया है कि—

> कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
> एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्मलिप्यते नरे॥

बौद्ध वाङ्मय में भी मनुष्य के कर्म को ही उसके जीवनचक्र को दिशा देने वाला माना गया है। धम्मपद के पापवग्ग में कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति पाप करता है तो उसे दोबारा ऐसा न करने दो, क्योंकि पापपूर्ण आचार का संग्रह बड़ा कष्टदायक होता है।[९] 'मलवग्ग' में जीवन से प्रस्थान करने वाले मनुष्य के सम्बन्ध में प्रश्न किया गया है कि उसने अपने लिये पाथेय क्या लिया है? और कहा गया है कि अच्छे कर्म ही पाथेय हैं। इन्हीं से उसके अगले जन्मों को पोषण मिलता है।[१०]

भारत का समूचा पुरातन वाङ्मय आत्मज्ञान या आत्मलाभ को जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य मानता है और आत्मतत्त्व से बाहर किसी भी परोक्ष सत्ता के प्रभाव को बहुत कम स्वीकार करता है। इसके अतिरिक्त हमारे यहां आत्मा को जगन्नियन्ता का ही एक अविभाज्य अंग माना गया है। वस्तुतः परात्पर सत्ता और सर्वान्तर्भूत तत्त्व में पूर्ण एकात्मता स्थापित करने वाला भारतीय चिन्तन मानुषी वृत्ति अथवा मनुष्य-कर्म को सर्वान्तर्यामी के कार्यव्यापार का ही एक अंश मानने के कारण मनुष्य को किसी अदृष्ट दैव का वशवर्ती बना ही नहीं सकता था। काल, स्वभाव और प्रकृति उसी सर्वान्तर्भूत तत्त्व के आयाम हैं और चूंकि मनुष्य उसी का एक अंश है, इसलिये इन पर भी उसका पूर्ण अधिकार है। स्पष्टतः उसे अपनी समूची सत्ता का पूर्ण स्वामित्व प्राप्त है और वह मनोयोगपूर्वक किये गये अध्यवसाय द्वारा हर पतनकारी स्थिति से अपने आप को उबार सकता है। यदि किसी अदृश्य और लोकातीत, अनुभवबाह्य सत्ता को जीवन और जगत् की एकमात्र विधातृशक्ति मान लिया गया होता तो लोग नैतिक पूर्णता और आत्मसंस्कार की ओर उन्मुख न होकर केवल किसी बाह्य शक्ति के सहारे पड़े रहते। डा० राधाकृष्णन ने ठीक ही लिखा है कि अपने भीतर विद्यमान सनातन सत्ता को न पहचानने वाला व्यक्ति किन्हीं अदृश्य शक्तियों के हाथ की कठपुतली मात्र बनकर रह जाता है।[११] परन्तु आत्मा को सर्वोपरि मानने की प्रवृत्ति ने कभी-कभी भारतीय चिंतन की अन्यथा प्रशस्त और स्वस्थ धारा को कुछ सीमा तक विकृत भी किया है, जिसपर महामनीषी डा० राधाकृष्णन ने बड़ा रोष प्रकट किया है। वे लिखते हैं कि भारतीय विचारक अनेक बार इस सामान्य प्रलोभन के शिकार रहे हैं कि आत्मा ही सत्य वस्तु है और जीवन एक निरर्थक भ्रम है तथा मनुष्य

के बाह्य जीवन और समाज में सुधार के लिये किये गये सब प्रयत्न मूर्खता मात्र हैं। बहुधा उस निरुत्साह ज्ञान की प्रशंसा की जाती रही, जो संसार की सारी गतिविधि का त्याग कर देता है। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत ऐसे मृत व्यक्तियों की संस्कृति का रंगमंच बन गया जो उस पृथ्वी पर चलते हैं जिसपर भूतों का वास है।[७] भारतीय चिंतन में इस प्रकार की विकृत मानसिकता का जन्म सम्भवतः मायावाद को उसके सही परिप्रेक्ष्य में न समझ पाने की विवशता से हुआ। भोगवाद की आत्यन्तिकता पर प्रहार करते हुए ही मांसल और स्थूल छवियों के लिये समर्पित संसार को उसके सहज रूप में प्रस्थापित किया जा सकता था। मनुष्यों को सहज मानुषी क्रियाकलाप और स्वस्थ, सन्तुलित जीवन-व्यवहार से विमुख करना शंकराचार्य सरीखे आचार्यों का लक्ष्य नहीं था। वे तो स्पष्ट घोषणा करते हैं कि "सत्ब्रह्म का कार्य यह सकल प्रपंच सत्स्वरूप ही है, क्योंकि यह सम्पूर्ण वही तो है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं है।[८] वे तो अथर्वश्रुति के प्रामाण्य से भी यही कहते हैं।[९] प्रतिदिन के कार्य में विवेकपूर्वक चलने की प्रेरणा देने वाला आत्मा हमें पुरुषार्थ से विमुख कर दे, इससे बड़ी विडम्बना और क्या हो सकती है। भगवान शंकराचार्य ने तो मनुष्य देह को दुर्लभ मानते हुए मनुष्य मात्र को पुरुषार्थ करने की प्रेरणा दी है।[१०] भवबन्धन से मुक्ति पाने हेतु कर्मों के संन्यास का उनका आह्वान वस्तुतः निष्क्रिय और निश्चेष्ट हो जाने का उपदेश नहीं, प्रत्युत् आसक्ति-रहित कर्म का निर्देश है।

भौतिक परिवेश में रहने वाले मनुष्य को संघर्षशील बनना ही पड़ता है। आत्मा का ऊर्ध्वसंचरण भी संघर्ष से ही होता है। निवेदिता बहिन ने अपने एक प्रवचन में कहा है, "इसमें तो सन्देह नहीं कि कर्मबन्धन से मुक्ति मिलने पर ज्ञान का सच्चा प्रकाश प्रकट होता है, परन्तु मानव-जाति में किसी भी काल में ऐसे लोग बहुत कम होते हैं जिनके लिये अपनी पूरी शक्तियों को अपने आस-पास के संसार से कठोर संघर्ष में लगा देना अत्यन्त आवश्यक न हो।[११] वे कहती हैं कि भगवान की सबसे बड़ी आराधना है कर्म। विचार अपनी सार्थकता कर्म में ही प्रमाणित करता है। यदि उसमें यह क्षमता नहीं है तो वह मात्र शब्दजाल है। ४ जनवरी, १९०० को लॉस एंजिल्स, केलिफोर्निया में गीता के कर्म-सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए स्वामी विवेकानन्द जी ने कहा था, "हम अपने लक्ष्य पर मुग्ध होने के कारण उसे इतना अधिक महत्त्व दे डालते हैं कि उसकी प्राप्ति के साधनों के स्वरूप को देखते तक नहीं। गीता ने इसीलिये कर्म की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है।[१२]

कर्मफल और कर्म-स्वातन्त्र्य

कुछ विद्वानों ने कर्म-सिद्धान्त के साथ मानव-स्वाधीनता का सामंजस्य बिठाने में बड़ी कठिनाई का अनुभव किया है। 'लुई रेनो' अपने एक व्याख्यान में कहते हैं कि कर्म एवं दैवी सत्ता के पारस्परिक संबंध तथा मनुष्य के आचार-व्यवहार पर इसके प्रभाव पर हिन्दू शास्त्रों में बहुत चर्चा हुई है। इसके अतिरिक्त इनकी विविध परिणतियों पर भी यहाँ बहुत ऊहापोह मिलता है, परन्तु कर्म-सिद्धान्त का मनुष्य की स्वाधीनता से सामंजस्य बिठाने का शायद ही कभी प्रयास किया गया हो।[१३] इस आपत्ति के निराकरण के लिये हम पाठकों से नीतिशास्त्र के महान आचार्य शुक्र का वह वक्तव्य देखने का आग्रह करेंगे, जिसमें वे कहते हैं कि मनुष्य की सुगति और दुर्गति उसके प्राक्तन कर्मों से जुड़ी होने पर भी उस की कर्मठता में आड़े नहीं आती। होनहार की अवश्यभविता के आधार पर मनुष्य का कर्तव्य तथा अकर्तव्य के बोध से विमुख हो जाना आचार्य शुक्र को बिल्कुल मान्य नहीं। वे कहते हैं कि पूर्वजन्म के कर्मों के आधार पर ही सब कुछ होता है, यदि यह निश्चित मान लिया जाये, तो कर्तव्या-कर्तव्य संबंधी सब उपदेश व्यर्थ हो जायेंगे। इसलिये बुद्धिमान और वन्द्यचरित्र लोग पौरुष को सबसे बड़ा मानते हैं। दैव की उपासना करने वाले तो निर्बल, कायर और नपुंसक होते हैं।[१४] भाग्य और पुरुषार्थ, दोनों मनुष्य के कर्म पर आश्रित हैं। पूर्वजन्म के कर्म को भाग्य कह देते हैं, जबकि इस जन्म का कर्म पुरुषार्थ कहलाता है।[१५] कभी दैव बलवान हो जाता है तो कभी पुरुषार्थ अधिक फलदायक सिद्ध होता है। दोनों में विश्वास करने वाला मनुष्य कर्म से विमुख

नहीं हो सकता। अपने ऊपर दैव की कृपा-दृष्टि रहते भी मनुष्य सन्तुष्ट होकर नहीं बैठा रहता, वरन् पुण्यों का और अधिक संचय करने के लिये और अधिक श्रमशील बनता है।[१६]

यहीं पर हमारे सामने ईश्वरीय अनुग्रह का प्रश्न भी आता है। मध्ययुग के भक्तिकाव्य में पुरुषार्थ की अपेक्षा प्रभुकृपा के प्रति आस्था अधिक प्रबल दिखायी देती है। जी भरकर पाप करने वाले भी बड़ी सुगमता से भवसागर पार करते दिखायी देते हैं। अजामिल, गणिका और गज की मुक्ति की बात सन्त-साहित्य में कई बार दोहरायी गयी है। परन्तु, इससे यह नहीं समझना चाहिए कि भक्त कवियों ने कर्म या पुरुषार्थ को झुठलाया है। यहाँ तो प्रभु के प्रति पूर्ण समर्पण के चामत्कारिक प्रभाव की ही व्यंजना की गयी है। तुलसीदास जी ने विधि की बात बार-बार कही है, परन्तु उनकी यह विधि सृष्टिकर्ता का ही एक रूप है (विधि-प्रपंच गुन अवगुन साना)। वे तो मनुष्य की सब अवस्थाओं को उसके अपने कर्मों का ही परिणाम मानते हैं। वे कहते हैं कि संसार में जीव जहाँ भी उत्पन्न होता है, वहीं तीनों तापों से जलता रहता है। इसमें किसी का दोष नहीं है। यह सब उसके अपने किये का ही फल है।[१७] वे अन्यत्र कहते हैं कि यह सारा विश्व ही कर्मप्रधान है, जो जैसा कार्य करता है उसे वैसा ही फल मिलता है, परन्तु अच्छे कार्य करने के लिये जिस विवेक की आवश्यकता होती है वह उसे विधाता से ही प्राप्त होता है। तुलसीदास कहते हैं कि काल, स्वभाव और कर्म की प्रबलता से मनुष्य कई बार अच्छे कर्मों से चूक जाता है, परन्तु बाद में अपने पुरुषार्थ के बल पर वह अपनी बिगड़ी सुधार लेता है। स्पष्टतः तुलसीदास जी कर्म करने में मनुष्य की स्वतन्त्रता के मार्ग में विधि-विधान या राम की रचना को आड़े नहीं आने देते।

वस्तुतः समूची मानव-सृष्टि मनुष्य के पौरुष से अनुप्राणित है। यहाँ दिखायी देने वाली सारी गति उसके कर्मव्यापार का फल है। भर्तृहरि कहते हैं कि मनुष्य के कर्म ने ब्रह्मा को ब्रह्माण्ड की रचना करने हेतु कुलाल बना दिया है, भगवान विष्णु को दस अवतार धारण करने के लिये विवश कर दिया है, रुद्र को हाथ में खप्पर लेकर भिक्षाटन करने के लिये विवश कर दिया है और सूर्य को आकाश में नित्य भ्रमण करते रहने के कठोर कार्य में झोंक दिया है; इस कर्म को हमारा नमस्कार।[१८] कर्म को ही मनुष्य का भाग्य-विधाता मानने वाले भर्तृहरि अन्यत्र कहते हैं कि हम देवताओं को नमस्कार करते हैं, परन्तु वे चूंकि विधाता के अधीन हैं अतः हम विधाता को ही क्यों न नमस्कार करें? परन्तु यह विधाता भी तो कर्मों के अनुसार ही फल देता है अतः इस कर्म को नमस्कार जिसपर कि विधाता का भी बस नहीं चलता।[१९] भर्तृहरि भाग्य या दैव की सत्ता को सर्वथा अस्वीकार नहीं करते, परन्तु इसे ऊपर से थोपी हुई वस्तु भी नहीं मानते। वे दैव को मनुष्य के तप द्वारा संचित की गयी निधि मानते हैं। भाग्य उनके मतानुसार समय आने पर वैसे ही फल देता है, जैसे ऋतु आने पर वृक्ष फल देते हैं।[२०] वे कहते हैं कि मनुष्य द्वारा किये गये कर्म भाग्य के रूप में फलते हैं। किये गये कर्म अवश्यमेव फल देते हैं, अतः हमें निष्क्रिय होकर नहीं बैठ जाना चाहिए। भर्तृहरि ने मनुष्य को सत्क्रिया भगवती की आराधना करने का परामर्श दिया है। इस सत्क्रिया या पुरुषार्थ से मनुष्य विष को अमृत, शत्रु को मित्र, दुष्ट को सज्जन और गुप्त को प्रकट बना देने की क्षमता प्राप्त कर लेता है।[२१]

पुनर्जन्म और कर्म-सिद्धान्त

इस कर्मनिष्ठा का मूल उत्स क्या है? इस प्रश्न पर विचार करते समय हमें भारतीय जनमानस में बद्धमूल पुनर्जन्म के विश्वास पर भी विचार कर लेना चाहिए, क्योंकि यह विश्वास मनुष्य में कर्मनिष्ठा और उद्यमशीलता का सूत्रपात तो करता ही है, उसे स्वतन्त्र रूप में चिन्तन करने तथा अपनी प्रकृति और प्रवृत्ति के अनुसार स्वतन्त्रतापूर्वक कर्म करने की ओर भी अग्रसर करता है। पुनर्जन्म की यह अवधारणा पीढ़ी-प्रति-पीढ़ी अनन्तकाल तक चलते चले जाने वाले जीवन की धारा की शाश्वतता को प्रमाणित करती है। स्वामी विवेकानन्द ने ठीक ही कहा है कि वैज्ञानिकों द्वारा प्रतिपादित 'पदार्थ की अविनश्वरता का

सिद्धान्त' ही मानवी सृष्टि में पुनर्जन्म कहा जा सकता है। हमारे पुरातन ऋषि सृजन में नहीं, निरन्तरता में विश्वास करते थे ; क्योंकि सृजन तो किसी सर्वथा नयी वस्तु का होता है, परन्तु हमारे यहाँ परमात्मा और सृष्टि दोनों अनादि और अनन्त माने गये हैं। ये दोनों समानान्तर रेखाओं के समान आगे बढ़ने वाले हैं।[१३]

उक्त निरन्तरता अथवा शाश्वतता को ही कर्म शब्द से व्याख्यायित किया गया है। "मानवीय व्यक्ति सर्वव्यापी प्रकृति का एक आत्मचेतन, सक्षम उत्पादक अंश है, जो अपने आप में अद्वितीय है। उसे संसार की भौतिक और प्राणमय परिस्थितियों के साथ बाँधता है कर्म। मानव-जीवन एक समवेत समष्टि है, जिसमें उत्तरोत्तर आने वाली हर एक कला अतीत कला में से विकसित होकर उद्भूत होती है"।[१४] डा० राधाकृष्णन कर्म-सिद्धान्त में सर्वाधिक सारवान वस्तु मानते हैं 'सातत्य की वह भावना', जो हमें हमारे वर्तमान जीवन में एकाकी और निरवलम्ब न छोड़ते हुए अनन्त और शाश्वत मानव-सत्ता के साथ जोड़ देती है। वे कहते हैं कि कर्म का सिद्धान्त इतना इस बात का प्रतिपादन नहीं करता कि जैसा कर्म करोगे, वैसा फल पाओगे, जितना कि वह मानव-जीवन का सातत्य प्रतिपादित करता है।[१५] छान्दोग्योपनिषद् में प्रतिपादित पुनर्जन्म का सिद्धान्त मनुष्य को स्वयं अपना भाग्यनिर्माता सिद्ध करता है। यहाँ एक स्थल पर कहा गया है कि एक प्रकार के कर्मों से मनुष्य देवयान से होता हुआ ब्रह्म में लीन हो जाता है और दूसरे प्रकार के कर्मों से वह पितृयान द्वारा चन्द्रलोक को प्राप्त होता है जहाँ वह पुण्यों का क्षय होने तक रहता है और उसके बाद पुनः पृथ्वी पर लौट आता है। बृहदारण्यकोपनिषद् भी इसी बात की पुष्टि करता है।[१६] स्पष्ट है कि मनुष्य अपने आप में जो कुछ भी है, उसका कारण उसी में विद्यमान है और इसी कारण उसे कर्म करने का एक असाधारण सामर्थ्य प्राप्त है। डा० राधाकृष्णन लिखते हैं, "कर्म या अतीत के साथ सम्बन्ध का यह अर्थ नहीं कि मनुष्य स्वतंत्र रूप में कोई कर्म नहीं कर सकता। उसमें स्वतन्त्र कर्म तो अन्तर्निहित ही है।" वे कहते हैं कि जो नियम हमें अतीत के साथ जोड़ता है, वह इस बात का भी प्रतिपादन करता है कि हम कर्म के नियम को अपने स्वतन्त्र कार्य से पराभूत कर सकते हैं।[१७]

महाभारत में पुरुषार्थ-प्रतिष्ठा

महाभारत में अनेक प्रकार के आख्यानों, रूपकों, प्रतीक कथाओं तथा प्रवचनों द्वारा दैव और पुरुषार्थ का विवेचन किया गया है। वस्तुतः एक जीवन्त और गतिशील संस्कृति का चित्रण करने वाली कोई भी रचना मनुष्य की कर्मठता की उपेक्षा तो कर ही नहीं सकती। महाभारत का कोई भी पात्र अकर्मण्य और निश्चेष्ट दिखायी नहीं देता। यहाँ पुरुष पात्रों के लिये प्रयुक्त सम्बोधनों में सब से अधिक बार 'महाबाहु' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त वीर पुरुषों के लिये आये 'नरव्याघ्र', 'नृपशार्दूल', 'महाभुज', 'नरार्षभ' आदि विशेषण भी कर्मशीलता का ही बोध कराते हैं। महाभारत के लगभग सभी पात्र जीवन को एक चुनौती के रूप में स्वीकार करते हैं और अपनी श्रमशीलता से ही अपने भाग्य का निर्माण करते दिखायी देते हैं। पुरुषार्थ इनका पाथेय है, जिजीविषा इनकी प्रेरणा का उत्स है, कर्मण्यता इनकी मार्गदर्शिका शक्ति है तथा शारीरिक-आत्मिक ऊर्जस्विता इनका संबल है। ये जीवन में पराजय स्वीकार करना तो सीखे ही नहीं हैं। अदीनता और अपलायन, अर्जुन के जीवन का मूल मन्त्र था। एकमात्र पौरुष के प्रति आस्थावान महाबली कर्ण का कहना था कि यद्यपि जन्म लेना दैव के अधीन है, तथापि पौरुष प्रकट करना मनुष्य के अपने हाथ में है।[१८] महाधनुर्धर अर्जुन का कहना था कि **यदि पौरुष मेरे दाहिने हाथ में है तो विजय मेरे बायें हाथ में है**। भीम को हम सर्वत्र अपनी विरोधी शक्तियों से जूझते देखते हैं। भीष्मपितामह, परशुराम, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि वयोवृद्ध पात्र भी कर्मशीलता को ही जीवन का सही मार्ग मानते दिखायी देते हैं। दुर्योधन के पक्ष में रहकर युद्ध करने वाले लगभग सभी वीर दैव के निर्देश पर चलने वाले नहीं थे। जहाँ तक स्त्री पात्रों का सम्बन्ध है, वे तो पुरुष पात्रों से भी बढ़कर उत्थानकामी और कर्मठ दिखायी देते हैं। महास्वनस्विनी विदुला पराजित होकर पलायन

करने वाले अपने पुत्र संजय में पुरुषार्थ के लिये नयी प्रेरणा जगाती दिखायी देती है। पाण्डवों के पौरुष को उद्दीप्त करने का श्रेय द्रौपदी को है। उसके वक्तव्य प्रबल पौरुष का पोषण करते हैं। कुन्ती ने भी समय-समय पर अपनी सन्तानों को पौरुषपूर्वक जीने का ही उपदेश दिया है। महाभारत में वर्णित राजा जनक के एक प्राचीन इतिहास में वैराग्यवृत्ति और निर्वेद की ओर उन्मुख राजा को उसकी पत्नी ही अपने ओजस्वी उपदेशों से कर्मठता की ओर अग्रसर करने का प्रयत्न करती दिखायी देती है। इन सब से बढ़कर, कर्मण्यता का उपदेश देते रहने वाले कृष्ण का चरित्र तो समूचे महाभारत पर छाया हुआ है। फिर, महाभारत युद्ध का इतना बड़ा समुद्यम ही यह प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त है कि उस युग में पुरुषार्थ ही वीरों का सब से बड़ा सहारा हुआ करता था।

महाभारत में युधिष्ठिर ही एक मात्र ऐसे पात्र हैं जो बार-बार दैव की ओर झुक जाते हैं। उनमें बारम्बार प्रज्वलित हो उठने वाली पश्चात्ताप की आग को शान्त करने के लिये उनके पक्ष के सभी पात्र अनेक युक्तियों से उन्हें यह विश्वास दिलाने का प्रयत्न करते हैं कि कर्तव्यपथ पर चलते हुए कुछ अप्रिय कार्य कर डालने वाले व्यक्ति पर किसी प्रकार का दोषारोपण नहीं हो सकता, क्योंकि कर्मशील मानव विधाता के हाथ का एक साधन है। द्रौपदी ने बड़े विषादपूर्वक उन्हें कहा है कि सारी सृष्टि ईश्वर के अधीन है। कोई भी व्यक्ति स्वाधीन नहीं है।[२८] वह कहती है कि विधाता ही सब मनुष्यों के लिये उनके प्राक्तन कर्म के अनुसार उनके सुख-दुःख अथवा प्रिय-अप्रिय की व्यवस्था करते हैं। जैसे कोई कठपुतली सूत्रधार से प्रेरित होकर अपने अंगों का संचालन करती है, उसी प्रकार यह सारी प्रजा ईश्वर की प्रेरणा से विविध चेष्टाएं करती है।[२९] वह कहती है कि ईश्वर आकाश के समान, मनुष्यों में व्याप्त होकर उनके सुख-दुःख का विधान करते हैं।[३०] प्रकटतः भाग्यवाद की व्याख्या करती प्रतीत होने वाली ये उक्तियां वस्तुतः युधिष्ठिर की मनोदशा को धीरे-धीरे बदलने के लिये कही गयी हैं, क्योंकि ऐसा कह चुकने के तुरन्त बाद ही द्रौपदी ने कहा है कि यह सब होने पर भी मनुष्य को कर्म अवश्य करना चाहिए, क्योंकि जीवन धारण करने के लिये सभी आवश्यक सम्पदाएं कर्म से ही प्राप्त होती हैं और कर्म न करने वाला व्यक्ति दरिद्र हो जाता है। सृष्टि का मूल आधार ही कर्म है। कर्म में सफलता मिलेगी या नहीं—इस सन्देह में पड़कर कर्म का त्याग उचित नहीं, क्योंकि कर्म में सफलता (भाग्य से नहीं) बहुत से कारणों के एकत्र होने पर ही मिलती है।[३१] द्रौपदी का कहना है कि ऊर्ध्वसंचरणशीलता अथवा उत्थानकामिता मनुष्य के स्वभाव में है। हमें कभी भी अपने आपको हीन मानकर अपनी अवमानना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि अपना अनादर करने वाले को ऐश्वर्यप्राप्ति नहीं होती।[३२] द्रौपदी के मुख से मानो स्वयं महाभारतकार ही घोषणा कर रहे हैं कि कर्म करने से यदि सफलता नहीं मिलती तो निष्क्रिय होकर नहीं बैठ जाना चाहिए, प्रत्युत् असफलता के कारणों की खोज करनी चाहिए।[३३] अधूरा कर्म सिद्धि प्रदान नहीं करता। सांगोपांग रूप में किया गया कर्म ही सिद्धि प्रदान करता है। कर्म के विषय में तर्क देते हुए द्रौपदी ने कहा है कि कर्म सदा बुद्धिपूर्वक ही किया जाता है। पहले मनुष्य यह भलीभांति समझ लेता है कि तिल में तेल है, लकड़ी में आग है और गाय में दूध है, तभी वह अध्यवसाय में प्रवृत्त होता है। वह अविवेकपूर्वक कार्य नहीं करता। अतः यह स्पष्ट है कि कर्म में कर्ता की योग्यता और अयोग्यता तथा कार्य की शक्यता और अशक्यता भी देखी जाती है। परन्तु यह निश्चित है कि कार्यसिद्धि के पीछे सर्वत्र मनुष्य ही कर्ता रूप में विद्यमान रहता है, अतः प्रशंसा उसके कर्तव्य की ही होनी चाहिए।[३४]

महाभारत के द्रोणपर्व में वर्णित मृत्यु का आख्यान यह संकेत देता है कि मनुष्य का अन्त किसी परोक्ष विधान के अनुसार नहीं होता प्रत्युत् यह उसके अपने कर्मों की परिणति है। नारीरूप-धारिणी मृत्यु ब्रह्मा जी से यह कहती सुनायी देती है कि "लोभ, क्रोध, असूया, ईर्ष्या, द्रोह, मोह, निर्लज्जता और कठोर वाणी, ये दोष ही देहधारियों की देह का अन्त करें"।[३५] महाभारत में इस बात का स्पष्ट संकेत मिलता है कि जब धरती जनसंख्या की अत्यधिक वृद्धि से भारपीड़ित हो जाती है तो मृत्यु अपने अनेक रूपों में जीवन की कर्तनी के रूप में प्रकट

जीवन धारण करने के लिये
एं कर्म से ही प्राप्त होती हैं और
क्ति दरिद्र हो जाता है। सृष्टि
र्म है। कर्म में सफलता मिलेगी
में पड़कर कर्म का त्याग उचित
फलता (भाग्य से नहीं) बहुत से
पर ही मिलती है।[३१] द्रौपदी का
णशीलता अथवा उत्थानकामिता
हैं। हमें कभी भी अपने आपको
अवमानना नहीं करनी चाहिए,
र करने वाले को ऐश्वर्यप्राप्ति
के सुख से मानो स्वयं महाभारत-
रहे हैं कि कर्म करने से यदि
तो निष्क्रिय होकर नहीं बैठ
असफलता के कारणों की खोज
ा कर्म सिद्धि प्रदान नहीं करता।
ा गया कर्म ही सिद्धि प्रदान
य में तर्क देते हुए द्रौपदी ने
बुद्धिपूर्वक ही किया जाता है।
भांति समझ लेता है कि तिल में
ा है और गाय में दूध है, तभी
त होता है। वह अविवेकपूर्वक
तः यह स्पष्ट है कि कर्म में कर्ता
ोग्यता तथा कार्य की शक्यता
ी जाती है। परन्तु यह निश्चित
छे सर्वत्र मनुष्य ही कर्ता रूप में
तः प्रशंसा उसके कर्तव्य की ही

में वर्णित मृत्यु का आख्यान यह
य का अन्त किसी परोक्ष विधान
प्रत्युत् यह उसके अपने कर्मों की
धारिणी मृत्यु ब्रह्मा जी से यह
कि "लोभ, क्रोध, असूया, ईर्ष्या,
और कठोर वाणी, ये दोष ही देह-
अन्त करें"।[३२] महाभारत में इस
मलता है कि जब धरती जनसंख्या
भारपीड़ित हो जाती है तो मृत्यु
वन की कर्तनी के रूप में प्रकट

होती है।[३३] यहाँ मृत्यु को कहीं भी अकारण सिद्ध नहीं किया गया, अतः इस सम्बन्ध में दिष्ट का स्पष्ट निषेध कर दिया गया है। मृत्यु को यहाँ कुछ निश्चित कारणों का कार्य बताया गया है और यह कारणता स्वयं मनुष्य में ही विद्यमान कही गयी है। महर्षि वाल्मीकि ने भी रामायण में कारण-कार्यवाद का ही पोषण किया है। वे कहते हैं कि जो व्यक्ति कारण-कार्य के सिद्धान्त को बिना समझे-बूझे कर्म करने के लिये व्यग्र हो उठता है, वह फल-प्राप्ति के समय वैसे ही दुःखी होता है जैसे कि आम के वृक्षों को काट कर पलाश-वृक्षों को सींचने वाला दुःखी होता है।[३४]

कालवाद

महाभारतकार ने पुरुषार्थ की प्रेरणा के लिये ही कहीं-कहीं पर 'कालवाद' के सिद्धान्त का भी प्रतिपादन किया है।[३५] वे कहते हैं कि पुरुषार्थ करने पर भी यदि फल नहीं मिलता तो इससे हतोत्साह होने की आवश्यकता नहीं। मनुष्य उद्यानों को सदा सींचता रहता है, परन्तु फल तो ऋतु आने पर ही मिलते हैं। परिश्रम कभी व्यर्थ नहीं जाता—महाकाव्यकारों की यह एक सामान्य मान्यता है। वाल्मीकि मुनि भी कर्मों के फलीभूत होने में काल को ही विशेष महत्व देते हैं।[३६] इस कालवाद का ही रूपान्तर है 'स्वभाववाद', जिसकी महाभारत में अनेक बार चर्चा हुई है। इसमें कहा गया है कि जगत् में काल या स्वभाव बड़ा प्रबल है, अतः जो हो रहा है उसे एक चुनौती के रूप में स्वीकार करना चाहिए। हतोत्साह होकर नहीं बैठ जाना चाहिए।[३७]

कर्मफल और राजा-प्रजा सम्बन्ध

अब प्रश्न उठता है कि क्या एक मनुष्य द्वारा किये गये कर्मों का प्रभाव दूसरों पर भी पड़ता है? महाभारतकार का सामान्य विश्वास तो यही है कि अपने कर्मों का फल मनुष्य को स्वयं ही भोगना पड़ता है, परन्तु इसमें एक व्यतिक्रम भी दिखायी देता है। राजा रोमपाद के किसी अपराध के कारण उसके राज्य में बारह वर्ष तक पानी नहीं बरसा और प्रजा को अकथनीय यातनाएं भोगनी पड़ीं।[३८] प्राचीन काल में तो ऐसा विश्वास चलता रहा है कि राजा के दोष से प्रकृति भी प्रभावित होती है। अभिज्ञानशाकुन्तल में राजा दुष्यन्त यह कहते सुनायी देते हैं कि मेरे दुष्कृत्यों के कारण लताओं का पुष्पित होना तो बन्द नहीं हो गया है?[३९] वस्तुतः किसी भी आदर्श राज्यव्यवस्था में शासक प्रजा के सच्चे प्रतिनिधि माने जाते हैं, अतः उनके दोष प्रजा के ही दोष माने लिये जाते हैं। वैसे भी प्रजा वैसा ही शासक पाती है जिसके कि वह योग्य होती है, अतः राजा के माध्यम से प्रजा अपने ही कर्मों का फल भोगती है। रामायण के एक अन्य आख्यान में एक ब्राह्मण का इकलौता पुत्र राजा राम के वर्ण-धर्म संबंधी व्यवस्था का पालन करवाने में ढील के अपराध के कारण कालकवलित हुआ बताया गया है।[४०]

प्रकृतिवाद और पर्यायवाद

महाभारतकार कहीं-कहीं पर मनुष्य को मानो पुरुषार्थी बनाने के लिये ही दैव का पक्ष ग्रहण करते प्रतीत होते हैं। उनके इन वक्तव्यों में दैव प्रकृति का वह विधान प्रतीत होता है, जिसके अनुसार प्रत्येक प्राणी अपनी प्रकृति के अनुसार कार्य करने के लिये बाध्य है। इसे हम प्रकृतिवाद की संज्ञा दे सकते हैं। पश्चात्ताप में डूबे हुए युधिष्ठिर को सान्त्वना देकर पुनः कर्तव्य-पथ पर आरूढ़ करने के लिये अर्जुन उनसे कहते हैं, "यह सब (प्राणिहिंसा आदि) दैव का विधान है। इसमें विद्वान पुरुष को मोह नहीं होना चाहिए। विधाता ने आपको जैसा बनाया है, आपको वैसा ही होना चाहिए (इसके विपरीत नहीं)।[४१] मनुष्य की निराशा दूर कर, उसमें नयी स्फूर्ति जगाने के लिये महाभारतकार ने पर्यायवाद का भी प्रतिपादन किया है। वे कहते हैं कि सुख-दुःख, भाव-अभाव, लाभ-हानि, जीवन-मरण आदि स्थितियाँ बारी-बारी से सबको प्राप्त होती हैं अतः बुद्धिमान लोग न इनसे प्रसन्न होते हैं और न शोक में डूबते हैं।[४२] उक्त कथन से दुःखी मानवों को आश्वासन मिलता है। इसमें किसी 'नियतिवाद' का संकेत ग्रहण नहीं किया जाना चाहिए। जीवन की किसी हीनतम और दुःखद अवस्था में पड़े, यातना भोगने वाले मनुष्य का भाग्यवादी बन जाना सदा संभावित रहता

है, परन्तु यदि उसे विश्व की अनन्त स्थितियों और जीवन की असंख्य अज्ञात संभावनाओं का विश्वास दिला दिया जाये तो वह जीवन धारण करने के लिये अपने में अपेक्षित मनोबल का संचय अवश्यमेव कर लेगा और कर्म की ओर अग्रसर होगा।

मनुष्य को ही जीवन और जगत् का नायकत्व प्रदान करने वाले महाभारतकार हर संभव उपाय से उसे स्फूर्ति-सम्पन्न बनाये रखने का प्रयत्न करते हैं। इसी-लिये वे पुरुषार्थ के पर्याय समुद्रमंथन को अपनी कृति में इतना महत्वपूर्ण स्थान देते हैं। देवासुर-संग्राम की कथा से भी वे इसी उद्देश्य की पूर्ति करते प्रतीत होते है।[६] इसके अतिरिक्त, महाभारत में वर्णित कामदुहा पृथ्वी और राजा पृथु का आख्यान हमें बताता है कि उद्योगशील और पुरुषार्थी व्यक्ति को ही धरती अपनी सम्पदाएँ प्रदान करती है। संघर्षों और द्वन्द्वों में जीकर ही मनुष्य ने सभ्यता का विकास किया है। उद्यमशील और प्रगतिकामी होने के कारण ही उसने प्रकृति की बलवत्ता को अपने लिये सदा एक चुनौती के रूप में स्वीकार किया है और उस पर अधिकार पाने का भरसक प्रयास किया है। महाभारत के बहुत से आख्यानों में प्रकृति और मनुष्य के बीच के सतत संघर्ष और इन संघर्षों में मनुष्य के कर्तव्य की अनन्त संभावनाओं का प्रतीकों द्वारा संकेत दिया गया है। बड़वामुख अग्नि का आख्यान ऐसा ही है।[७] महर्षि अगस्त्य द्वारा किया गया समुद्रपान भी इसी ओर संकेत करता है।

पाणिवाद

इसके अतिरिक्त, शेष पुरातन वाङ्मय की तरह ही महाभारत में भी मनुष्य की सारी जीवनचर्या पुरुषार्थ-चतुष्टय की प्राप्ति के निमित्त ही मानी गयी है। मनुष्य अपने अनवरत प्रयास से सीढ़ी-प्रति-सीढ़ी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति करता है और दैव या भाग्य कहीं भी उसके आड़े नहीं आता। महा-भारतकार मनुष्य को इस बात के लिये बड़ा भाग्य-शाली मानते हैं कि वह अपने अभ्युदय के लिये सब आवश्यक शक्तियों से सम्पन्न है। वे कहते हैं, "जिन मनुष्यों के पास दो हाथ हैं, वे क्या कुछ नहीं कर सकते? हाथ रखने वाले मनुष्य ही वास्तव में सिद्धार्थ हैं। हाथ वालों की, मैं सबसे अधिक सराहना करता हूं। जैसे आप धन चाहते हैं, वैसे ही मैं पाँच अंगुलियों वाले हाथ चाहता हूँ, क्योंकि पाणिलाभ से बढ़ कर कोई लाभ नहीं"।[८] डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने मानवीय पुरुषार्थ की प्रशंसा करने वाले इन्द्र के मुख से कहलवाये गये महाभारतकार के इस वक्तव्य को उचित रूप में ही पाणिवाद की संज्ञा दी है।[९]

आजगरवृत्ति का अभिप्राय

परन्तु महाभारत के आजगर पर्व में वर्णित प्रह्लाद-अवधूत-संवाद हमें आजगरवृत्ति अपनाकर भाग्य के सहारे पड़े रहने की शिक्षा देता प्रतीत होता है। सन्त मलूकदास ने संभवतः इसी स्थल से संकेत ग्रहण कर अपने बहुचर्चित– "अजगर करे न चाकरी" वाले दोहे की रचना की है और इसी के आधार पर कुछ छिद्रान्वेषी समीक्षकों ने सारे भारतीय समाज को भाग्यवादी कह डाला है। आजगरवृत्ति वस्तुतः हमें निर्लिप्त, निरपेक्ष और निर्द्वन्द्व जीवन जीने की प्रेरणा देती है।[१०] यहाँ यह भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए कि आजगरवृत्ति से निर्वाह करने वाले अवधूत के मुख से महाभारतकार हमें प्रारब्ध, दिष्ट अथवा होनहार में आस्था रखकर निश्चेष्ट बने रहते हुए अपने आप प्राप्त भोगों से सन्तुष्ट रहने का उपदेश दे रहे हैं। यहाँ अकर्मण्यता का पाठ नहीं पढ़ाया गया है, प्रत्युत् एक ऐसे जीवन-दर्शन की उद्भावना की गयी है जिस पर चलने से मनुष्य अत्यधिक धनलिप्सा, भोगवृत्ति और गगनस्पर्शी महत्वाकांक्षा से उत्पन्न कदर्थता, हीनभाव, ग्लानि और क्लेश से बच जाता है। यहाँ वस्तुतः अतिशयता और आत्यन्तिकता से मुक्त सरल, शुद्ध, संयत, मर्यादित और निर्भय जीवन जीने की आवश्यकता पर बल दिया गया है। बाइबिल में भी मनुष्यों को उपदेश दिया गया है कि "अपने प्राण के लिये यह चिन्ता न करना कि हम क्या खायेंगे और न अपने शरीर के लिये कि हम क्या पहनेंगे। क्या प्राण भोजन से और शरीर वस्त्र से बढ़कर नहीं? आकाश के पक्षियों को देखो, वे न बोते हैं, न काटते

हैं, वे क्या कुछ नहीं कर
मनुष्य ही वास्तव में
में सबसे अधिक सराहना
हते हैं, वैसे ही मैं पाँच
हूँ, क्योंकि पाणिलाभ से
। [८] डा० वासुदेवशरण
की प्रशंसा करने वाले
महाभारतकार के इस
पाणिवाद की संज्ञा दी

र पर्व में वर्णित प्रह्लाद-
त्ति अपनाकर भाग्य के
ता प्रतीत होता है। सन्त
थल से संकेत ग्रहण कर
करे न चाकरी" वाले
इसी के आधार पर कुछ
सारे भारतीय समाज को
आजगरवृत्ति वस्तुतः हमें
न्द्र जीवन जीने की प्रेरणा
त नहीं होनी चाहिए कि
से वाले अवधूत के मुख से
दिष्ट अथवा होनहार में
बने रहते हुए अपने आप
रहने का उपदेश दे रहे हैं।
हीं पढ़ाया गया है, प्रत्युत
दभावना की गयी है जिस
धिक धनलिप्सा, भोगवृत्ति
क्षा से उत्पन्न कदर्यता,
लेश से बच जाता है। यहाँ
स्थितिकता से मुक्त सरल,
र निर्भय जीवन जीने की
गया है। बाइबिल में भी
गया है कि "अपने प्राण के
कि हम क्या खायेंगे और
कि हम क्या पहनेंगे। क्या
ीर वस्त्र से बढ़कर नहीं ?
खो, वे न बोते हैं, न काटते

हैं और न खत्तों में बटोरते हैं, तो भी तुम्हारा स्वर्गस्थ पिता उनको खिलाता है।" [९] यहाँ पर भी पुरुषार्थ का निषेध नहीं किया गया, वरन् प्रभु की जीवत्सलता का बखान किया गया है। इसी संदर्भ में मानो मनुष्यों को पुरुषार्थ की प्रेरणा देते हुए कहा गया है, "मांगो तो तुम्हें दिया जायेगा, ढूंढो तो तुम पाओगे, खटखटाओ तो तुम्हारे लिये खोला जायेगा।" [१०] स्पष्ट है कि मनुष्य का क्रियाकलाप ही उसकी धर्मचर्या है, अतः महाभारत में वर्णित आजगरवृत्ति अस्वीकार का पाठ नहीं पढ़ाती और सुखैश्वर्य की प्राप्ति के लिये पुरुषार्थ का आश्रय लेने का भी निषेध नहीं करती। निषेध तो वस्तुतः उस निरंकुश कामना और निर्मर्याद महत्त्वाकांक्षा का किया गया है, जो मनुष्य को अकिंचन भिखारी बनाकर उसके अन्यथा उदात्त और स्वाभिमानी जीवन को ध्वस्त कर डालती है।

उक्त वृत्ति से मनुष्य में प्रज्ञा उत्पन्न होती है और वह सहज सन्तुलित जीवन जीने लगता है। महाभारत में कही गयी विदुरनीति भी हमें उस प्रज्ञादर्शन की झलक देती है, जिसके अनुसार कर्मनिष्ठ बने रहना ही मानव की नियति है। महाभारत के संजययान पर्व में वर्णित संजय की उक्तियाँ भाग्यवाद का पोषण करती हैं, परन्तु इस प्रसंग के तुरन्त बाद प्रजागर पर्व नाम से विदुरनीति के प्रज्ञादर्शन का दीर्घ वक्तव्य आता है [११] और ऐसा लगता है कि दिष्टवाद की काट करने के लिये ही इसे यहाँ रखा गया है। चिन्ता से उत्पन्न हुई अनिद्रा के कष्ट को शान्त करने के लिये धृतराष्ट्र विदुर को बुलाते हैं और नीतिशास्त्र पर उनके प्रवचन सुनते हैं, अतः इस समूचे सुभाषित-संग्रह को प्रजागरपर्व नाम दिया गया है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि जागरण का आह्वान होने के कारण भी इसे यह नाम देना उचित समझा गया होगा। इस प्रज्ञादर्शन का सारतत्त्व यह है कि मनुष्य दान, होम, देवपूजन, मांगलिक कर्म, प्रायश्चित तथा सब प्रकार के लौकिक आचार सम्पन्न करे, क्योंकि नित्य-कर्मों को करने से देवता उसके अभ्युदय की सिद्धि करते हैं। [१२]

महाभारत के सौप्तिकपर्व में कृपाचार्य द्वारा अश्वत्थामा को कहे गये वचनों में भाग्य की बात भी यद्यपि बहुत बल देकर कही गयी है, किन्तु यहाँ भी अधिक बल पुरुषार्थ पर ही दिया गया है। वे कहते हैं कि सारा मनुष्य-संसार दैव और पुरुषकार, इन दो बातों से बंधा है, इनके अतिरिक्त कोई तीसरी बात तो यहाँ है ही नहीं। परन्तु बाद में वे कहते हैं कि केवल दैव से ही सारे कार्य सिद्ध नहीं होते और केवल कर्म से भी पूर्ण सिद्धि नहीं मिलती। कार्य सिद्धि के लिये दोनों का योग आवश्यक है। [१३] पुरुषार्थहीन भाग्य यदि पर्वत पर बरसने वाला निष्फल बादल है तो दैवरहित पुरुषार्थ अच्छी तरह जोते गये खेत में अंकुरित न होने वाला बीज है। कृपाचार्य जी का कहना है कि भाग्यहीन का पुरुषार्थ व्यर्थ चला जाता है और पुरुषार्थहीन का दैव भी उसे कोई फल नहीं देता, परन्तु यह सब होने पर भी मनुष्य को पुरुषार्थ पर ही सबसे अधिक ध्यान देना चाहिए क्योंकि सिद्धि तो मानुषी ही होती है, अर्थात् सफलता का सीधा संबंध पुरुषार्थ से ही होता है। सम्यक रूप से जोते गये खेत में ही बीज पनपता है, यद्यपि वर्षा का योगदान भी उसमें कम महत्त्वपूर्ण नहीं होता। दैव मनुष्य की पहुँच से बाहर की वस्तु है, अतः जो अपने हाथ में है उस पुरुषार्थ पर ही अधिक ध्यान देने में बुद्धिमत्ता है। मानुषी कौशल अथवा कार्यदक्षता में ही मनुष्य अपने जीवन की सार्थकता प्रमाणित कर सकता है। [१४] महाभारतादि-शास्त्रकारों ने मनुष्यों के पुरुषार्थ को 'उत्थान' की संज्ञा भी दी है, जिससे यह सिद्ध होता है कि वे पुरुषार्थ को ही प्रगति का साधन मानते हैं। महाभारतकार कहते हैं कि शारीरिक और आत्मिक शक्तियों का अक्षय भण्डार होते हुए भी यदि मनुष्य भाग्य के सहारे बैठा रहता है तो वह मनुष्यत्व को बट्टा लगाता है। उन्होंने कृपाचार्य के मुख से यह कहलवा कर कि "अपनी वृत्तियों पर नियंत्रण न रख सकने वाले आलसी ही पुरुषार्थ की निन्दा करते हैं," [१५] भाग्यवादी लोगों को अच्छी फटकार दी है।

पुरुषार्थ की महत्ता

फल के रूप में कर्म की परिणति में महाभारतकार

को पक्का विश्वास है। वे कहते हैं कि कर्म न करने से कोई फल तो मिलता ही नहीं, इसके अतिरिक्त अकर्मण्य व्यक्ति दुःखी भी रहता है, अतः कर्म को सदा महान फल देने वाला समझ कर ही करना चाहिए।[५४] निश्चेष्ट रह कर भी सब कुछ पा जाने वाले और घोर परिश्रम करके भी फल से वंचित रह जाने वाले लोग इस संसार में बहुत कम मिलेंगे।[५५] कार्यकुशल व्यक्ति सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकता है तथा आलसी सदा खिन्न रहता है। दक्ष पुरुष ही अपना हित-साधन करने में सफल होते हैं। परिश्रम करके भी कारणवश फल प्राप्त न कर पाने वाले कार्यकुशल व्यक्ति को कम से कम इस बात का सन्तोष तो होता है कि उसने कुछ किया है। इससे कोई उसकी निन्दा भी नहीं कर सकता।[५६] अपनी अस्मिता की सार्थकता प्रमाणित कर देने से बढ़ कर और कोई सुख नहीं। इससे अहं की तुष्टि तो होती ही है, कुछ न कर पाने की विवशता से उत्पन्न खेद भी मिट जाता है।

बिना हाथ पैर हिलाये, सब कुछ पा जाने से मनुष्य की भीतरी क्षमताओं का उद्घाटन नहीं होता और उसकी सकारात्मक सत्ता का प्रमाण भी नहीं मिलता। इससे मनुष्यत्व की गरिमा भी कम होती है। बिना पौरुष प्रकट किये मनुष्य की जिजीविषा का भी परिचय नहीं मिलता और इससे उसकी गरिमा भी कम होती है। महाभारतकार, मनुष्य को चेतावनी भरे शब्दों में कहते हैं कि बिना परिश्रम किये ही फलों का भोग करने वाला मनुष्य परोपजीवी होने के कारण सारे समाज की निन्दा का पात्र बन जाता है। दूसरों की घृणा और विद्वेष का पात्र बने रहने से तो अच्छा है कि हम कर्म करें।[५७] अतः यह स्पष्ट है कि आत्म-विकास और सामाजिक प्रतिष्ठा के लिये भी हमें पुरुषार्थ करना चाहिए।

दैव भी उपयोगी

इस पुरुषार्थ की बात को महाभारत में दैव के माध्यम से भी समझाने का प्रयत्न किया गया है। महाभारत-कार कहते हैं कि दैव पर भी कुछ न कुछ मात्रा में विश्वास करना आवश्यक है, क्योंकि ऐसा न करने वाले लोग जब असफल हो जाते हैं तो अपने पुरुषार्थ पर से उनका विश्वास उठ जाता है। पुरुषार्थ को सर्वोपरि मानते हुए भी कार्यारम्भ में दैव का स्मरण अवश्य करना चाहिए।[५८] सीमित बल वाला मनुष्य हर कार्य में अपनी पहुँच भी तो नहीं रखता। इस-लिये अच्छा यही है कि वह फल की बात दैव पर छोड़ दे और सारे काम कर्तव्यभावना से करे। कभी-कभी पुरुषार्थ करते हुए भी मनुष्य को सफलता नहीं मिलती। यदि दैव पर उसकी आस्था न हो तो वह पुरुषार्थ को सदा के लिये निष्फल और व्यर्थ मानकर पथभ्रष्ट होने लगता है तथा धर्मविमुख होकर हानि उठाने लगता है।[५९] महाभारतकाल के वीर पुरुष विघ्न-बाधाओं को दैवदण्ड भी मानते थे, परन्तु ऐसी अनुभूति उन्हें दुर्बलता के क्षणों में ही होती थी। पांचालों के शिविर में प्रवेश करने के इच्छुक अश्व-त्थामा को प्रवेश-द्वार पर खड़ा एक दानव बलपूर्वक रोक लेता है और शिविर-प्रवेश के उसके हर प्रयास को निष्फल कर देता है। पराजित और हतवीर्य अश्वत्थामा इसे दैवदण्ड समझता है। वास्तव में उसमें एक दुर्बलता उत्पन्न हो जाती है। उसका अन्तः करण उसके सौप्तिकवध के निश्चय को उसकी कलुषित बुद्धि और पापवृत्ति का प्रत्यक्ष फल मानता है। इस घटना से दैवदण्ड की भी सकारणता प्रमाणित हो हो जाती है, यदि ऐसा न होता तो अश्वत्थामा इस बाधा के निवारण के लिये शिव की आराधना न करता।

महाभारतकार ने कहीं-कहीं पर काल की प्रबलता की बात कही है, परन्तु ऐसे प्रसंगों में कर्मण्यता का परित्याग न करने का निर्देश भी मिलता है। वे कहते हैं कि संसार में प्रत्येक कष्ट के निवारण का कोई न कोई उपाय है। मानसिक व्याधि प्रज्ञा या चिन्तन से और दैहिक कष्ट औषधों से मिटाया जा सकता है। इस विज्ञानसम्मत सत्य का परित्याग कर हमें अविवेकपूर्ण व्यवहार नहीं करना चाहिए।[६०] उत्थान और पतन, जन्म और मृत्यु तथा संयोग और वियोग संसार में चलती रहने वाली नवीकरण की प्रक्रिया के अनिवार्य अंग हैं। सम्पूर्ण संग्रह क्षयशील है

, क्योंकि ऐसा न करने
ी हैं तो अपने पुरुषार्थ
जाता है। पुरुषार्थ को
श्य में दैव का स्मरण
मेत बल वाला मनुष्य
ी नहीं रखता। इस-
ह फल की बात दैव पर
भावना से करे। कभी-
ष्य को सफलता नहीं
ी आस्था न हो तो वह
फल और व्यर्थ मानकर
धर्मविमुख होकर हानि
ारतकाल के वीर पुरुष
मानते थे, परन्तु ऐसी
क्षणों में ही होती थी।
रने के इच्छुक अश्व-
ड़ा एक दानव बल्पूर्वक
ा के उसके हर प्रयास
पराजित और हतवीर्य
मझता है। वास्तव में
जाती है। उसका अन्तः
श्चय को उसकी कलुषित
क्ष फल मानता है। इस
सकारणता प्रमाणित हो
होता तो अश्ववत्थामा इस
शिव की आराधना न

ीं पर काल की प्रबलता
से प्रसंगों में कर्मण्यता का
देश भी मिलता है। वे
थिक कष्ट के निवारण का
मानसिक व्याधि प्रज्ञा या
ष्ट औषधों से मिटाया जा
त सत्य का परित्याग कर
नहीं करना चाहिए।[६८]
र मृत्यु तथा संयोग और
रहने वाली नवीकरण की
। सम्पूर्ण संग्रह क्षयशील है

और सारा उत्थान पतनान्त है, अतः मनुष्य को इस विषय में सोचना नहीं चाहिए। कष्टप्रद परिस्थितियाँ भी कई बार सुखदायक बन जाती हैं। आलस्य में मनुष्य आराम अनुभव करता है, परन्तु इसका परिणाम कष्टदायक ही होता है। कार्यशीलता कष्टदायक प्रतीत होती है, परन्तु इसका परिणाम अत्यन्त शान्तिदायक होता है। इसके अतिरिक्त मनुष्य को यह भी समझ रखना चाहिए कि ऐश्वर्य का वास कार्यदक्ष व्यक्ति में ही होता है। उपर्युक्त सारे चिन्तन का सार यही है कि जिन घटनाओं पर मनुष्य का नियंत्रण नहीं है, उन्हें दिष्ट मान लेने में तो कोई आपत्ति नहीं; परन्तु आत्मोत्थान के लिये उद्योगशील बने रहना नितान्त आवश्यक है। हम सब कर्मों और परिस्थितियों के नियन्ता नहीं, परन्तु हमें काम सारे पूर्ण मनोयोग से करने चाहिए। यथास्थिति में सन्तुष्ट रहते हुए हमें जड़ और संवेदनहीन नहीं बनना चाहिए। ऐश्वर्यवृद्धि के लिये सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए। महाभारतकार कहते हैं कि मनुष्य अपने दरिद्रताजनित कष्ट बुद्धिपूर्वक दूर करे।[६९] बुढ़ापा, मृत्यु जैसी अवस्थाओं पर यद्यपि हमारा नियन्त्रण नहीं है, परन्तु प्रयत्न करके इन्हें भी कम कष्टदायक बनाया जा सकता है।

दैव कब अनुकूल हो, कहा नहीं जा सकता, अतः पुरुषार्थ ही मनुष्य का एक मात्र सम्बल है। हाँ, यदि दैव को अनुकूल बनाना चाहते हैं तो निरन्तर प्रयत्न करते चले जाइए।[६९] यद्यपि काल बड़ा प्रबल है, तथापि वह भी मनुष्य के भले-बुरे कामों के अनुसार ही चलता है, अतः कर्म में ही आस्था रखनी चाहिए। भाग्य तो सदा अनित्य हुआ करते हैं (अनित्यानीह भाग्यानि)।

तप

हमारे यहाँ तप को बड़ा महत्व दिया गया है। इसी से मनुष्य को रूप, लावण्य, भाग्य तथा विविध सम्पदाओं की प्राप्ति होती है। तप न करके केवल भाग्य के आश्रय में पड़े रहने वाले निठल्ले लोगों को कुछ भी प्राप्त नहीं होता।[७०] पुण्य के लिये 'सुकृत' शब्द का प्रयोग भी पुरुषार्थ की महत्ता प्रतिपादित करता है। महाभारत में एक स्थल पर कहा गया है कि भाग्य 'सुकृती' का ही जागता है, 'अकृति' की सर्वत्र निन्दा होती है। पुरुषार्थ से न केवल सांसारिक भोग प्राप्त होते हैं, अपितु इससे धर्मनिष्ठा और मनीषिता भी प्राप्त होती है। अतः, यह स्पष्ट है कि दैहिक तथा आत्मिक दोनों प्रकार के सुख पुरुषार्थ से ही प्राप्त होते हैं। देवत्व प्राप्ति का एकमात्र साधन भी पुरुषार्थ ही है।[९८]

पुरुषार्थ की अनिवार्यता को ध्यान में रखते हुए ही हमारे यहाँ मनुष्य-समुदाय को गुणकर्मानुसार चार वर्णों में बांटा गया है और वर्ण के अनुसार किये गये कर्तव्य कर्म को निःश्रेयस-प्राप्ति का एक बड़ा साधन बताया गया है।[९९] महाभारत में कहा गया है कि कर्म तथा उससे प्राप्त फल में सदा एक सन्तुलन बना रहता है। देने वाला ही कुछ लेने की आशा कर सकता है। भगवान को भी पुरुषार्थ से बंधा बताया गया है। सृष्टि का विस्तार करने के लिये उसे भी तप करना पड़ता है। अतः मनुष्यों को भी अपने कर्ता के अनुकरण पर कर्मशील बनना चाहिए। महाभारत में एक स्थल पर दैव को नपुंसक पति कह कर उसका आश्रय लेने वालों की भरपूर निन्दा की गयी है।[१००]

पौराणिक वाङ्मय में दिखायी देने वाली इन्द्र पद की अनित्यता पुरुषार्थ की बलवत्ता का बोध कराती है। पुरुषार्थ करने वाला ही इस पद पर आसीन होता है। मनुष्यों के प्रति देवताओं की परम्परागत ईर्ष्या और ऋषियों तथा देवताओं के बीच चलने वाला विग्रह भी पुरुषार्थ की प्रबलता प्रमाणित करता है। देवता मनुष्य की तपश्चर्या में विघ्न डालते रहते हैं। वे नहीं चाहते कि कोई भी मनुष्य अपने उद्योग और श्रम के बल पर इन्द्र की पदवी प्राप्त कर ले।

यदि ऋषि-मुनियों द्वारा दिये जाने वाले शाप पर विचार करें, तो भी यही प्रतीत होगा कि दैव की अपेक्षा पुरुषार्थ अधिक बलवान है। तप और नियम-पालन से संशितव्रत मुनि इतने समर्थ हो जाते हैं कि वे अपना अनिष्ट करने वाले किसी भी व्यक्ति को शाप से दग्ध कर सकते हैं। महाभारतकार कहते हैं

कि उनकी यह शक्ति दैव से नहीं, पुरुषार्थ से उत्पन्न होती है।[९९] महाभारत में कई बार 'दैव' अनिश्चितताबोधक शब्द के रूप में भी आया है।[९६] महाभारत में वर्णित शकुन, निमित्त और लक्षण किसी साधारण पाठक को दैव द्वारा भेजे गये संकेतों का आभास दे सकते हैं, परन्तु वास्तविकता यह है कि वहाँ दिखायी देने वाले उत्पात या दुर्निमित्त पात्रों की मनोदशाओं को चित्रित करने के लिये किये गये काव्य-प्रयोग हैं। पराक्रमी योद्धाओं द्वारा देखे गये शकुन उन्हें भयभीत तो अवश्य करते हैं, परन्तु ये उन्हें कर्तव्यमूढ़ करने में समर्थ नहीं होते। इन्हें वे प्रकृति की ओर से दी जाने वाली चेतावनियों के रूप में स्वीकार करते हैं और आत्मनिरीक्षण करते हुए अपने चरित्र के दोषों को दूर करने का प्रयत्न करते हैं।

उक्त विवेचन और विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि भारतीय वाङ्मय-विशेषतः महाभारत—मनुष्य को विश्व की सर्वश्रेष्ठ विभूति मानता है और उसे वीर, विक्रान्त एवं गतिशील बनने की प्रेरणा देता है। हमारा समूचा साहित्य हमारे पुरुषार्थवादी होने का साक्षी है।

—राजकीय महाविद्यालय,
रामपुर बुशहर (हि० प्र०)

सन्दर्भ :

१. यदा वै करोत्यथ निस्तिष्ठति नाकृत्व निस्तिष्ठति कृत्वैव निस्तिष्ठति विजिज्ञासितव्येति। कृतिं भगवो विजिज्ञास इति॥ (छान्दोग्योपनिषद् ७/२१/१)
२. छान्दोग्योपनिषद् (८/१/६)
३. बृहदारण्यकोपनिषद् (१/४/१६)
४. 'दि दम्मपद', डा० एस० राधाकृष्णन द्वारा सम्पादित, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९६८, पृष्ठ ९८
५. 'धम्मपद' (१८/२३५)—अंग्रेजी अनुवाद का हिन्दी रूपान्तर
६. 'रिकवरी आफ फेथ', पृष्ठ १०३ (हिन्द पाकेट बुक्स—पेपर बैक संस्करण)
७. धर्म तुलनात्मक दृष्टि में—डा० राधाकृष्णन, पृष्ठ ९६
८. सदब्रह्मकार्यं सकलं सदेव, तन्मात्रमेतन्न ततोऽन्यदस्ति। (विवेकचूड़ामणि २३२)
९. बह्वेवेदं विश्वमित्येव वाणी श्रेती ब्रतेऽथर्वनिष्ठा वरिष्ठा"। (विवेकचूड़ामणि २३३)
१०. इतः को न्वस्ति मूढ़ात्मा यस्तु स्वार्थे प्रमाद्यति।
दुर्लभं मानुषं देहं प्राप्य तत्रापि पौरुषम्॥ (विवेकचूड़ामणि ५)
११. 'रिलिजन एण्ड धर्म'—भगिनी निवेदिता, पृष्ठ ९१
१२, 'कम्प्लीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानन्द'
१३. 'रिलिजन्स आफ एनशिएण्ट इण्डिया'—लुई रेनो, पृष्ठ ७७ (मुंशीराम मनोहरलाल, १९७२)
१४. शुक्रनीति (१/४७,४८)—चौखम्बा प्रकाशन, १९६८
१५. शुक्रनीति (१/४९)
१६. म० भा०, आदिपर्व, अध्याय ९०
१७. कवितावली : उत्तरकाण्ड में राममाहात्म्य प्रकरण
१८. ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे

विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तो महासंकटे ।
रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटने कारित:
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नम: कर्मणे ।। (नीतिशतक ९६)

१९. नमस्यामो देवान्न तु हतविधेस्तेऽपि वशगा
विधिर्वन्द्य: सोऽपि प्रतिनियतकर्मैकफलद: ।
फलं कर्मायत्तं किममरगणै: किं च विधिना ।
नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्य: प्रभवति ।। (नीतिशतक ९५)

२०. नीतिशतक ९७

२१. नीतिशतक ९९

२२. 'कम्प्लीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानन्द', खण्ड—५, पृष्ठ ३१३

२३. जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि—डा० राधाकृष्णन, पृष्ठ ३४५

२४. जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि—डा० राधाकृष्णन, पृ० ३४६

२५. बृहदारण्यकोपनिषद् (६/२/१५-१६)

२६. जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि—डा० राधाकृष्णन, पृष्ठ ३४३

२७. सुतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम् ।
दैवायत्तं कुले जन्म म दायत्तं तु पौरुषम् ।।

२८. ईश्वरस्य वशे लोकास्तिष्ठन्ते नात्मनो यथा (म० भा०, वनपर्व ३०/२१)

२९. यथा दारुमयी योषा नरवीर समाहिता ।
ईश्यत्यगमंगानि तथा राजन्निमा: प्रजा: ।। (वनपर्व ३०/२३)

३०. आकाश इव भूतानि व्याप्य सर्वाणि भारत ।
ईश्वरो विदधाति कल्याण यच्च पापकम् ।। (वनपर्व ३०/२४)

३१. सिद्धिर्वाप्यथवासिद्धिरप्रवृत्तिरथोऽन्यथा ।
बहूनां समवाये हि भावानां कर्म सिद्धयति । (वनपर्व ३२/५१)

३२. म० भा० वनपर्व (३२/५८)

३३. वनपर्व (३२/४१)

३४. वनपर्व (३२/३१)

३५. द्रोणपर्व, अध्याय ५४

३६. द्रोणपर्व अध्याय ५३

३७. रामायणकालीन संस्कृति—डा० शान्तिकुमार व्यास, पृष्ठ २७५ (सस्ता साहित्य प्रकाशन)

३८. म० भा० शान्तिपर्व, अध्याय २५

३९. कालोऽत्यगीभवत्यत्र सस्यानामिव पक्तये । (वाल्मीकि-रामायण ३/४९/२७)

४०. सुखं वा यदि वा दु:खं प्रियं वा यदि वाप्रियम् ।
प्राप्तं प्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजित: । (म० भा० शान्तिपर्व २५/२६)

४१. वनपर्व, अध्याय ११३

४२. आहोस्विदप्सवो ममपचरितैर्विघ्नभितो वीरुधामित्यारूढ़ बहुप्रतर्कमपरिच्छेदाकुलं मे मन: ।। (अभिज्ञान-शाकुन्तलम् ५/९)

४३. वाल्मीकीय रामायण, उत्तरकाण्ड, अध्याय ७३
४४. विधानं दैवविहितं तत्र विद्वान् न मुह्यति ।
यथासृष्टोऽसि राजेन्द्र तथा भवितुमर्हसि ॥
४५. म० भा० शान्तिपर्व (२५/३१)
४६. आदिपर्व, अध्याय १८
४७. शान्तिपर्व, अध्याय ३४२
४८. अहो सिद्धार्थता तेषां येषां सन्तीह पाणयः ।
अतीव स्पृहये तेषां येषां सन्तीह पाण्यः ॥
पाणिमद्भ्यः स्पृहास्माकं यथा तव धनस्य वै ।
न पाणिलाभादधिको लाभः कश्चन विद्यते ॥ (शान्तिपर्व १८०/११-१२)
४९. भारतसावित्री, खण्ड ३, पृष्ठ २४४ (सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन १९६८)
५०. म० भा०, शान्तिपर्व, अध्याय १७९
५१. नया नियम : मत्ती, ६/२५-२६
५२. नया नियम : मत्ती, ७/७
५३. म० भा०, उद्योगपर्व, अध्याय ३३ से ४० तक
५४. उद्योगपर्व (३३/११६)
५५. आबद्धा मानुषाः सर्वे निबद्धाः कर्मणोर्द्वयोः ।
दैवे पुरुषकारे च परं ताभ्यां न विद्यते ॥ (सौप्तिकपर्व २/२)
५६. प्रज्ञाः पुरुषकारेषु वर्तन्ते दाक्षमाश्रिताः (सौप्तिकपर्व २/१८)
५७. तत्रालसाः मनुष्याणां ये भवन्त्यमनस्विनः ।
उत्थानं ते विगर्हन्ति प्राज्ञानां तन्न रोचते ॥ (सौप्तिकपर्व २/१२)
५८. सौप्तिकपर्व (२/१३)
५९. सौप्तिकपर्व (२/१४)
६०. सौप्तिकपर्व (२/१७)
६१. सौप्तिकपर्व (२/१७)
६२. सौप्तिकपर्व (२/२०)
६३. सौप्तिकपर्व (६/२६-२७)
६४. प्रज्ञया मानसं दुःखं हन्याच्छारीरमौषधैः ।
एतद् विज्ञानसामर्थ्यं न बालैः समतामियात् ॥ (स्त्रीपर्व २/३१)
६५. तेषां परमदुःखानां बुद्धया भैषज्यमाचरेत् ।
सर्वप्राणभृतां वृत्तं प्रेक्षमाणस्ततस्ततः ॥ (शान्तिपर्व २८/११)
६६. शान्तिपर्व (१५३/५०)
६७. अनुशासनपर्व (६/१२)
६८. अनुशासनपर्व (६/१४)
६९. अनुशासनपर्व (६/१५-१६)
७०. अनुशासनपर्व (६/२०)
७१. अनुशासनपर्व (६/४१)
७२. भीष्मपर्व (३/८२-८५)

अनिल समर्थ

राष्ट्रभाषा हिन्दी और लोकमान्य तिलक

भारतीय स्वतंत्रता-आन्दोलन में लोकमान्य तिलक का अतुलनीय योगदान सर्वश्रुत है। लोकमान्य उन जनप्रिय, अग्रगण्य नेताओं में से थे, जिन्होंने हमारे राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक पक्ष को सशक्त और सुगठित करने का महत् प्रयास किया। प्रत्येक राष्ट्र को अपनी संस्कृति और अस्मिता को प्रकट और प्रगल्भ करने के लिये किसी भाषा के माध्यम की आवश्यकता होती है। कोई भी राष्ट्र कृत्रिम भाषा (अक्वायर्ड लेंगवेज) के माध्यम से अपने जन-जीवन के वैशिष्ट्य को न तो व्यक्त कर सकता है और न ही औरों को प्रभावित कर सकता है। अपने 'स्व' की अभिव्यक्ति और प्रगति के लिये अपनी भाषा ही एकमात्र माध्यम हो सकती है, इसमें दो मत नहीं। लोकमान्य, जिनकी ख्याति जन-प्रिय तथा मेधावी नेता के रूप में चिरस्मरणीय है, इस सत्य को भलीभाँति पहचान चुके थे। राष्ट्रभाषा के विकास और प्रसार के लिये अपना प्रामाणिक मत स्पष्ट रूप से व्यक्त करते हुए उन्हें किसी प्रकार की राजकीय या बौद्धिक द्विविधा नहीं हुई।

अपने सुप्रसिद्ध पत्र 'केसरी' में, जिसका यह शताब्दी-वर्ष है, उन्होंने २२ नवम्बर, १९०४ को प्रकाशित अग्र-लेख में लिखा था, "हिन्दी की अभिवृद्धि के लिये बनारस में नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना हुई है। यह सभा हिन्दी की सेवा बहुत ही निष्ठापूर्वक, सुचारु रूप से कर रही है। इस सभा के कार्यकर्ताओं का विश्वास है कि निकट भविष्य में सारे हिन्दुस्तान में हिन्दी का प्रसार होगा।" ४ जुलाई, १९०५ के 'केसरी' में भी नागरी-प्रचारिणी सभा का सन्दर्भ देते हुए लोकमान्य ने लिखा था कि इस सभा का कार्य अभिनन्दनीय और अनुकरणीय है।

सन १९१७ में राष्ट्रभाषा-प्रचार के लिये कलकत्ते में एक सम्मेलन हुआ था, जिसमें लोकमान्य भी उपस्थित थे। इस सम्मेलन का "विवरण मराठी 'लोकराज्य' के १ जनवरी, १९१८ के अंक में प्रकाशित हुआ था। इस सम्मेलन में लोकमान्य ने आग्रहपूर्वक कहा था, "हिन्दी ही भारत की राष्ट्रभाषा बनाने योग्य है।" उन्होंने यह भी सुझाव दिया कि हिन्दी को और भी विकसित करने का प्रयास किया जाना चाहिए ताकि यह भाषा अधिक प्रभावी बने। अपने भाषण में उन्होंने कहा था, "देवनागरी लिपि ही राष्ट्रलिपि हो"। 'स्टैंडर्ड' और

'टाइम' अंग्रेजी पत्रों का उल्लेख करते हुए लोकमान्य ने अपने श्रोताओं को बताया था कि राष्ट्रीय स्तर पर हमें किसी 'स्टैंडर्ड लिपि' की बहुत आवश्यकता है और यह लिपि देवनागरी ही हो सकती है। इसी सम्मेलन के एक श्रोता, अब वयोवृद्ध, श्री सीताराम सेकसरिया जी ने (जिनसे इस लेखक का परिचय हिन्दी के विद्वान लेखक डा० प्रभाकर माचवे ने पिछले वर्ष कलकत्ते में कराया) बड़ी ही आत्मीयता और सहजता से अपना जो संस्मरण सुनाया, उसे पूर्णतः उद्धृत करना उचित होगा—

"सन् १९१७ में इण्डियन नेशनल कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन कलकत्ते में हुआ। डा० अनी बेसेंट उसकी अध्यक्षा थीं।

"उसी समय राष्ट्रभाषा-सम्मेलन भी हुआ, जिसमें अन्य नेताओं के साथ गांधीजी और श्रीमती सरोजिनी नायडू भी शामिल हुए। सम्मेलन के सभापति थे लोकमान्य तिलक। सभापति का भाषण अंग्रेजी में हुआ। और लोगों के भाषण भी अंग्रेजी में होने लगे। गांधी जी से जब बोलने के लिये कहा गया तो वे हिन्दी में बोले। उन्होंने कहा, "राष्ट्रभाषा-सम्मेलन के सभापति अगर अंग्रेजी में भाषण करें, तो वह राष्ट्रभाषा-सम्मेलन कैसा ?" लोकमान्य ने खड़े होकर क्षमा मांगते हुए कहा, "मैं हिन्दी नहीं जानता, इसी-लिये अंग्रेजी में बोलना पड़ा।" तब गांधी जी ने कहा, "आप मराठी में बोल सकते थे, संस्कृत में बोल सकते थे, जो आप खूब अच्छी तरह जानते हैं।" इसी सिल-सिले में उन्होंने यह भी कहा कि हिन्दुस्तान की बुलबुल सरोजिनी नायडू अच्छी तरह से उर्दू जानती हैं। वह उर्दू में बोल सकती थीं।

"उसी दिन शाम को लोकमान्य तिलक के सम्मान में एक सार्वजनिक सभा थी। लोकमान्य जब अपने निवास-स्थान (बुढ़िया बाड़ी, बाँसतल्ला स्ट्रीट) पहुंचे, तब उन्होंने वहां उपस्थित लोगों से कहा, "मुझे शाम को बोलना है। गांधी जी के कहने के बाद मैं अंग्रेजी में बोल नहीं सकता और मुझे हिन्दी आती नहीं।" तब हम लोगों ने कहा कि आप हम लोगों से तो हिन्दी में बात कर रहे हैं। इसी भाषा में बोलिए। उन्होंने कहा, 'यह भाषा तो बोलचाल की है, भाषण की नहीं।" हम लोगों ने उनसे कहा कि आप इसी भाषा में बोलिए और जहाँ आपको कठिनाई हो, वहाँ संस्कृत या मराठी शब्दों का प्रयोग कीजिए।

"उस दिन शाम को वह सार्वजनिक सभा बीडन स्क्वायर में हुई, जिसमें लोकमान्य हिन्दी में बोले। बहुत अच्छे बोले। लोकमान्य ने भाषण शुरू करते हुए कहा, "मैं आज जीवन में प्रथम हिन्दी में भाषण दे रहा हूं।" श्रोताओं में बंगाली अधिक संख्या में थे। उनकी सरल भाषा सब लोग समझ सके। मुझे याद है कि लोकमान्य ने 'चाभी' शब्द के लिये 'ताली' शब्द का प्रयोग किया था। सभा के अन्य वक्ता बंगला में बोले।"

श्रद्धेय सेकसरिया जी ने अपने उपर्युक्त संस्मरण में जिस सार्वजनिक सभा का उल्लेख किया है, वह सन् १९१७ के दिसम्बर के अन्त में हुए इण्डियन नेशनल कांग्रेस के अधिवेशन के तुरन्त बाद भारतीय स्वराज्य-संघ द्वारा ३ जनवरी, १९१८ को आयोजित सार्वजनिक सभा थी। इस अवसर पर किया हुआ लोकमान्य का हिन्दी-भाषण १५ जनवरी, १९१८ को 'केसरी' में प्रकाशित हुआ था। लोकमान्य का प्रथम हिन्दी-भाषण होने से इसका ऐतिहासिक महत्व है। पत्र के अनुसार उन्होंने कहा था—

"अध्यक्ष महाशय और मेरे प्यारे भाइयो ! पं० नेकीराम शर्मा ने ऐसा प्रस्ताव किया है कि हम हिन्दी में बोलें। मुझे हिन्दी आती नहीं, इस वास्ते मेरी टूटी-फूटी और अशुद्ध हिन्दी के लिये आप क्षमा करेंगे। आज का जलसा 'होम रूल' का है। आप बड़े बाजार के रहने वाले हैं, इसलिये आप की बड़ी दुकान होगी। मान लीजिए कि किसी दुकान का मालिक लड़का है। दुकान पर पिता ने मुनीम रखा था। जब वह लड़का २१ वर्ष का हुआ तो कहने लगा कि, "दुकान मुझे क्यों नहीं सौंप देते ?" पर मुनीम कहता है कि "हम २० वर्ष से मुनीम हैं, काम करते हैं। दुकान तुम्हारी है सही, पर आज एक कोठरी ले लो, जब उसे ठीक रख सकोगे तो धीरे-धीरे सारी दुकान सौंप देंगे।" पर हक लड़के का है। उसे काम करने का मौका न देने का हक

हैं। इसी भाषा में बोलिए।
तो बोलचाल की है, भाषण
उनसे कहा कि आप इसी
हाँ आपको कठिनाई हो, वहाँ
का प्रयोग कीजिए।

सार्वजनिक सभा बीडन स्व-
क्षमान्य हिन्दी में बोले। बहुत
ने भाषण शुरू करते हुए कहा,
म हिन्दी में भाषण दे रहा
ी अधिक संख्या में थे। उनकी
समझ सके। मुझे याद है कि
ब्द के लिये 'ताली' शब्द का
के अन्य वक्ता बंगला में बोले।"

ने अपने उपर्युक्त संस्मरण में
का उल्लेख किया है, वह सन्
अन्त में हुए इण्डियन नेशनल
तुरन्त बाद भारतीय स्वराज्य-
१८ को आयोजित सार्वजनिक
पर किया हुआ लोकमान्य का
नवरी, १९१८ को 'केसरी' में
लोकमान्य का प्रथम हिन्दी-
ऐतिहासिक महत्व है। पत्र के
—

र मेरे प्यारे भाइयो ! पं०
प्रस्ताव किया है कि हम हिन्दी
ाती नहीं, इस वास्ते मेरी टूटी-
ी के लिये आप क्षमा करेंगे।
रूल' का है। आप बड़े बाजार
ये आप की बड़ी दुकान होगी।
दुकान का मालिक लड़का है।
ीम रखा था। जब वह लड़का
हने लगा कि, "दुकान मुझे क्यों
मुनीम कहता है कि "हम २०
म करते हैं। दुकान तुम्हारी है
ठरी के लो, जब उसे ठीक रख
ारी दुकान सौंप देंगे।" पर हक
म करने का मौका न देने का हक

मुनीम को नहीं है। अब हम सज्ञान हुए हैं, इसलिये बादशाह से स्वराज्य मांगते हैं। नौकरों का हमारे देश पर कुछ अख्त्यार नहीं है। ये 'सिविल सर्वेण्ट' नौकर हैं। ये चले जायें तो बादशाह का कुछ नुकसान नहीं होगा। वह दूसरा नौकर रख लेगा। हमारे हाथ में सत्ता आने से बादशाह की हानि न होगी। हमें स्वराज्य मिलेगा तो हमारा बादशाह रहेगा और 'पार्लमेण्ट' भी कायम रहेगी। ये नौकर हमारा हित देखने वाले नहीं हैं, इस वास्ते हम सत्ता माँग रहे हैं। वह कोई भयंकर और राजद्रोही चीज नहीं है। स्वराज्य माँगने से राजद्रोह नहीं होता, ऐसा हाइकोर्ट का निर्णय हो चुका है। पुलिस पूछे तो कहो कि हम अपना हक माँगते हैं। यह राजद्रोह नहीं है, तुम चाहे जो करो। हमारे लोग जिस को चुनेंगे, उसका कहना नौकर को मानना पड़ेगा और जो न मानेगा वह 'डिसमिस' कर दिया जायेगा। अधिकारी वर्ग के पेट का सम्बन्ध स्वराज्य देने की सूचना से है। इससे वह विरोध करता है। वह यह नहीं कहता कि स्वराज्य न देंगे, पर कहता है कि "तुम अभी इसके लायक नहीं हो, इसलिये आज म्युनिसिपलिटी का काम संभालो, सड़क साफ करो, बत्ती लगाओ। जब यह सब अच्छी तरह करोगे तो और देने का विचार करेंगे।" पर ऐसा थोड़ा-थोड़ा मिलने से युगान्त में भी स्वराज्य की वस्तु पूरी नहीं मिलेगी। इसे अच्छी तरह ध्यान में रखो। इसमें अंग्रेजी राज्य की भी हानि नहीं है। हमको स्वराज्य देने से साम्राज्य को बड़ा फायदा होगा। स्वराज्य मिलेगा तो हिन्दुस्तान १०-५ लाख ही क्या ५७ लाख आदमी दे सकेगा। हमारे पूर्वज राजपूत, सिख आदि बहुत शूर थे। उनका रक्त हमारे शरीर में है। साम्राज्य की रक्षा करने की हमारी उम्मीद है। आज जापान या अफगानिस्तान हम पर चढ़ाई करे तो उन्हें रोकने की शक्ति नहीं रही। हमें स्वराज्य देने से साम्राज्य भी अच्छा रहेगा। यह बात विलायत वालों के ध्यान में कुछ-कुछ आयी है। उन्हें अच्छी तरह उसे समझाना चाहिए। यह समय परमेश्वर की कृपा से आया है। उद्योग न करेंगे तो आपके सरीखा दुर्भाग्यवान जगत् में कोई न होगा। विलायत का लोकमत जो अनुकूल करेंगे तो हमारा उद्देश्य सफल होगा। ऐसा समय अब अगले सौ वर्षों में भी न आयेगा। समय अनुकूल होने से काम करना चाहिए। आलस्य छोड़कर शरीर से, द्रव्य से और बुद्धि से मदद करो। व्यापारी हो, क्लर्क हो, क्षत्रिय हो, मुसलमान हो, जो हो, स्वराज्य के लिये मदद करो। होमरूल लीग के मेम्बर को सिर्फ १-१ रुपया ही देना पड़ता है। ऐसे ९० हजार मेम्बर होने से ९०,००० रुपया हो जायेगा। इतना देने वाला एक आदमी नहीं चाहिए, पर सिर्फ १-१ ही देने वाला होने से काम बहुत होगा। एक रुपये पर एक आदमी रहेगा। ५० हजार की कितनी सामर्थ्य है, यह ध्यान में रखना चाहिए।"

लोकमान्य द्वारा कलकत्ते में किये हुए इस हिन्दी भाषण की वार्ता देश में सर्वत्र पहुंची। अत्यन्त प्रभावी वक्ता के नाते लोकमान्य की जो ख्याति थी, उसे चार चांद लगे। तत्पश्चात् अनेक सभाओं में श्रोतागण उनसे हिन्दी में भाषण करने के लिये आग्रह करने लगे। जनता के इस आग्रह के कारण लोकमान्य ने दो-तीन बार हिन्दी में भाषण किया, किन्तु इन सभी भाषणों का विवरण लिखित रूप में उपलब्ध नहीं है। ६ फरवरी, १९१८ के प्रातः खंडवा के सोरावजी उद्यान में एक सभा हुई थी, जिसकी अध्यक्षता खंडवा के वयोवृद्ध नेता श्री हरिदास चतरजी ने की थी। सभा के प्रमुख वक्ता थे लोकमान्य तिलक। श्रोताओं ने उनसे हिन्दी में भाषण करने का आग्रह किया। तब लोकमान्य ने कहा :

"आजकल का दिन स्वराज्य का है। दस बरस के पहले ऐसा था कि मुँह से स्वराज्य निकलने वालों को सजा होती थी। आज वह समय नहीं है। वह फरक कैसा हो गया ? फरक होने का कारण क्या है ? यूरोप में जो महायुद्ध उपस्थित हो रहा है, वही इसका कारण है। महायुद्ध में एक बात विलायत के लोगों के ध्यान में आ चुकी है कि हिन्दुस्थान की उन्नति न होगी तो साम्राज्य की उन्नति भी नहीं होगी। आज सौ बरस हिन्दुस्थान का ऐसा कारभार चला है कि सब बड़े अधिकारी विलायत से आते हैं और सब 'सबाडिनेट' लोग 'नेटिव्ह' नियुक्त होते हैं। इसका क्या परिणाम हो गया ! महायुद्ध शुरू है, हिन्दुस्थान में तीस करोड़ आदमी हैं और आज सिर्फ ५ लाख मिलने का कारण क्या है ? क्या सब लोग नामर्द बन गये हैं ? अभी

आदमी मिलने के वास्ते जबरदस्ती करनी पड़ती है। क्यों ? आप पहले जवान नहीं थे, शूर नहीं थे, मर्द नहीं थे ? महाराष्ट्र में ऐसा था कि पेशवा सरकार का हुकुम होते ही दो लाख आदमी सहजता से जमा होते थे। आदमी न मिलने का कारण तलवार को हल बना दिया गया है। अभी हल की तलवार बनने को थोड़ा दिन लगेगा। इसका ऐसा परिणाम हुआ कि सर्वत्र शांतता हुई। फिर शांतता शांतता में फेर है। श्मशान में भी शांतता रहती है और देवालय में भी शांतता होती है। हिन्दुस्थान में जो शांतता है, वो नामर्द, पराक्रमहीन शांतता है। शांतता चाहिए, लेकिन ऐसी पराक्रमहीन शांतता नहीं चाहिए। पहले ऐसा नहीं था। अभी हम लोग क्या मांगते हैं ? लोगों पर विश्वास रखना। विश्वास की स्वराज्य-व्यवस्था अच्छी तरह से होती है। स्वराज्य का यह मायना कोई अभी राजद्रोह नहीं समझते। अभी तो ऐसा हो गया है कि स्वराज्य की चर्चा करने के वास्ते खुद सेक्रेटरी साहब मि० मांटेग्यू भी इधर आये हैं। अभी तो स्वराज्य का वाद है। इसका निकाल पार्लमेण्ट में हो जायेगा। प्रस्तुत राज्यव्यवस्था में बदल होना चाहिए, ऐसा मांटेग्यू साहब भी कहते हैं। हमारे स्वराज्य को सब विलायत के लोग अनुकूल करना चाहिए। अभी सबसे पहले बाप्टिस्टा साहेब गये हैं तो लेबर पार्टी ने अनुकूल प्रस्ताव कर दिया है। ऐसे और दस-पांच विद्वान तथा नेतागण को जाना चाहिए। लेबर पार्टी ने ऐसा ठराव किया है (बाप्टिस्टा का तार पढ़ कर सुनाते हैं)—"दि लेबर पार्टी प्लेसेज इटसेल्फ टु सपोर्ट दि काज आफ होमरूल फार इण्डिया"।

'मजदूर लोगों का जो विलायत में पक्ष है, वह मदद करने को तैयार है। इतना ही नहीं, वह हिन्दुस्थान की मदद करने की शपथ लेते हैं। एक ही आदमी गया है तो कैसा आन्दोलन हुआ है ! अभी बहुत जाते तो बहुत अच्छा आन्दोलन हो जायेगा। दस-पांच आदमी विलायत जाते तो एक बरस के अन्दर होमरूल अवश्य मिलेगा। स्वराज्य कानूनी है। इसमें डर कोई नहीं है। उसकी सब चर्चा हो चुकी है। वहाँ जागृति करेंगे तो विलायत के लोगों की सहायता अवश्य मिलेगी। महायुद्ध का पहला क्या मतलब है ? विलायत के मुत्सद्दी ऐसा कहते हैं कि महायुद्ध का मतलब जगभर प्रजासत्ताक राज्य-पद्धति स्थापन करने का है। महायुद्ध का वह मतलब साध्य करने के वास्ते दस-पांच आदमी भेजना चाहिए। ये फिर पैसे बिगर विलायत में कैसे जायेंगे ? विलायत में सब काम पैसे से होता है और विलायत में बहुत मंहगाई भी हुई है। एक बाप्टिस्टा साहेब को बीस-पचीस हजार रुपया खर्च हुआ। ऐसे पांच आदमी जाते तो एक लाख रुपया लगेगा। हम इससे ज्यादा हिन्दी में भाषण नहीं कर सकते।"

आज के हिन्दी और गुजराती के स्यातनाम लेखक तथा गांधीवादी चिन्तक श्री काकासाहब कालेलकर जी ने जब लोकमान्य के उक्त भाषण की 'रिपोर्ट' गांधी जी को पढ़कर सुनायी तो गांधी जी ने कहा, "तिलक महाराज ने हिन्दी बक्तृता का एक नया ढंग आविष्कार किया है। उनके छोटे और अर्थपूर्ण वाक्यों में जनता को प्रभावित करने का सामर्थ्य है।"

राष्ट्रभाषा के प्रति लोकमान्य की बढ़ती हुई लगन और बहुसंख्य लोगों की हिन्दी के प्रति निष्ठा देखकर लोकमान्य के युवा अनुयायी डा० मुंजे (१८७२-१९४८) ने एक हिन्दी पत्र प्रारम्भ करने की योजना बनायी। पत्र के संपादन का कार्यभार ग्रहण करने के लिये डा० मुंजे ने पं० माखनलाल चतुर्वेदी जी से अनुरोध किया। २८ जुलाई, १९१९ को डा० मुंजे ने पं० चतुर्वेदीजी को पत्र लिखा :

"श्रीयुत पंडित माखनलाल चतुर्वेदी,
मु० सिवनी, मालवा

सादर प्रणाम।

आपका ता० २६ का पत्र अभी मुझे मिला और वर्तमान से विदित हुआ। योग्य ही है कि मेरे स्नेही और हितचिन्तक आपकी योग्यता से प्रेरित होकर आपको इस 'संकल्प' का कार्य स्वीकार करने में आग्रह करें। एक तो अपने प्रान्त का यही एक नाम लेने लायक पत्र होने और आपकी बुद्धि का और स्वदेश-प्रेम का लाभ इस असंस्कृत प्रान्त को सुसंस्कृत करने के प्रयास में मिले, और दूसरा, राष्ट्रीय पक्ष को राष्ट्रीयों से सर्व प्रकार की सहायता देनी चाहिए। आप सुज्ञ हैं

आपको विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं। आपका स्वास्थ्य सुधर रहा है, यह जानकर आनन्द होता है। ..... पत्र की नीति 'केसरी' और 'महाराष्ट्र' के आदर्श सी रहेगी, याने वह राष्ट्रीय पक्ष, तिलक-पक्ष का पत्र होगा।

आपका नम्र सेवक
बा० शी० मुंजे "

राष्ट्रवाद के प्रमुख तत्त्वों और तथ्यों को जनसाधारण तक पहुँचाने में एवं उन्हें स्वतंत्रता-आन्दोलन में सक्रिय रूप से सम्मिलित कराने में राष्ट्रभाषा का कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है, इसलिये लोकमान्य ने हिन्दी-समाचार-पत्रों को बहुत प्रोत्साहन दिया। इस संदर्भ में स्वर्गीय बाबूराव विष्णु पराड़कर जी का संस्मरण, जो उन्होंने अपनी मृत्यु के दो मास पूर्व श्री लक्ष्मीशंकर व्यास जी को बताया था, उल्लेखनीय है: "'आज' के प्रकाशन से पूर्व, जून १९२० में उसकी रूपरेखा तथा नीति स्थिर करने के सम्बन्ध में लोकमान्य तिलक से मिलने मैं पूना गया था। ५ सितम्बर, १९२० को 'आज' निकला।" श्री पराड़कर जी जून में लोकमान्य से मिले थे और दुर्भाग्यवश १ अगस्त, १९२० को लोकमान्य स्वर्ग सिधार गये। इसका उल्लेख 'आज' के प्रथम अंक के अग्रलेख में करते हुए पराड़कर जी ने लिखा था, "'आज' की जो नीति निर्धारित की गयी है, उससे स्वर्गवासी लोकमान्य तिलक की पूर्ण सहानुभूति थी। लोकमान्य का दर्शन करने तथा पत्र की नीति के संबंध में आपके उपदेश लेने के लिये इसका लेखक गत सौर जेष्ठ मास के अन्त में पूना गया था। उस समय 'आज' की नीति के सम्बन्ध में आपसे बहुत कुछ बातें हुई थीं। लोकमान्य का सबसे प्रधान उपदेश यही था कि स्वराज्य प्राप्त करने का प्रयत्न करो, लोगों को उनके स्वाभाविक अधिकार समझा दो तथा धर्मतः कर्तव्य-पालन करते हुए भी यदि विघ्न उपस्थित हों तो उनकी परवाह मत करो....." (श्री लक्ष्मीशंकर व्यास लिखित 'स्मृति की त्रिवेणिका' से उद्धृत)।

राष्ट्र के सर्वांगीण विकास के लिये राष्ट्रभाषा का जो महत्व है, उस पर लोकमान्य ने अपने अनेक भाषणों और लेखों के माध्यम से प्रकाश डाला है। उन्होंने जब 'कांग्रेस डेमोक्रेटिक पार्टी' का संगठन किया तो उसके घोषणापत्र में भी, जो अप्रेल १९२० में प्रकाशित किया गया था, राष्ट्रभाषा के प्रसार एवं प्रचार के लिये प्रयत्नशील रहने की बात की थी।

लोकमान्य तिलक के समय की राजनीति और आज की राजनीति में अर्द्ध शतक से अधिक का अन्तराल है। कभी-कभी ऐसा लगता है कि इस अर्द्ध शताब्दी में भारतीय राजनीति में आधारभूत परिवर्तन हुआ है। यह परिवर्तन राष्ट्र को किधर ले जा रहा है, इस विषय में प्रत्येक व्यक्ति का अपना मत हो सकता है, किन्तु इस बात पर शायद दो मत न हों कि हमारे राष्ट्रीय जीवन की कुछ समस्याएं आज भी किसी प्राचीन चट्टान की भांति हमारे प्रगति-पथ पर विशाल प्रश्न-चिह्न बनकर खड़ी हैं। राष्ट्रभाषा आज भी हमारे समक्ष एक ज्वलन्त प्रश्न है। इस गंभीर राष्ट्रीय समस्या पर राजनीति से कुछ दूर हटकर ऐतिहासिक दृष्टि से प्रकाश डालने का, यह लेख एक लघु, नम्र प्रयास है।

—विद्याभवन होस्टेल,
शांतिनिकेतन—७३१ २३५

संकल्प-सृष्टि

संसार को कष्टकर और दुःखमय देखकर श्री राम के मन में युवावस्था से पूर्व ही वैराग्य आ गया। उन्हें सृष्टि की वास्तविकता बताने के उद्देश्य से वशिष्ठ मुनि ने यह कथा सुनायी :

एक बार जगत्स्रष्टा ब्रह्मा अपनी प्रलय-निद्रा से जागकर पुनः सृष्टि करने को उद्यत हुए तो उन्होंने देखा कि सृष्टि तो पूर्वशः विद्यमान है। उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ। उन्होंने उस सृष्टि के सूर्य से पूछा कि वह सृष्टि उनके सृजन करने से पूर्व ही कहाँ से आ गयी ?

सूर्यदेव ने बताया—भगवन ! एक यही नहीं, ऐसी तो दस सृष्टियाँ इस समय विद्यमान हैं। ब्रह्मा जी ने पूछा—इनके सृष्टिकर्ता कौन हैं ? सूर्यदेव बोले—आपकी रची हुई पूर्व-सृष्टि में कैलाश पर्वत के दक्षिण में स्थित जम्बू-द्वीप के स्वर्णजट नामक प्रान्त में इन्दु नामक पावन-चरित्र ब्राह्मण रहता था। उसके दस पुत्र थे। सभी चरित्र और संकल्प के धनी थे। इन्दु की मृत्यु हो जाने पर उसके पुत्रों ने निश्चय किया कि वे अपने पिता की स्मृति में कोई ऐसा काम करेंगे जो उससे पूर्व किसी ने न किया हो। विचार करके वे इस निश्चय पर पहुँचे कि वे दसों भाई दृढ़ साधना करके ब्रह्मा के समान संकल्पशक्ति प्राप्त करके दस सृष्टियाँ करेंगे। संकल्प और पुरुषार्थ के धनी उन दसों भाइयों ने विकट साधना करते हुए अपनी इच्छाशक्ति को बढ़ाते-बढ़ाते आपके ही समान सामर्थ्य प्राप्त कर लिया और अपनी-अपनी सृष्टियाँ कर लीं। वे ही इन सृष्टियों के ब्रह्मा हैं।

\+ \+ \+

न किंचन महाबुद्धे तदस्तीह जगत्त्रये।
यदनुद्वेगिना नाम पौरुषेण न लभ्यते ॥ (यो० वा० ६/१५७/३८)

तीनों लोकों में ऐसा कुछ भी नहीं है, जो **उद्वेगरहित** पुरुषार्थ से प्राप्त न किया जा सकता हो।

* देवी प्रसाद सिंह

** के० एन० मणि त्रिपाठी

मनु की ऐतिहासिकता

भारतीय समाज-जीवन को सर्वाधिक प्रभावित करने वाले तथा विदेशी विद्वानों को अपने अध्ययन के लिये आकर्षित करने वाले मनु की 'मनुस्मृति' या 'मनुसंहिता' अथवा 'मानव धर्मशास्त्र' विश्व वाङ्मय में परम प्रख्य है, परन्तु ऐतिहासिकता की दृष्टि से अद्यावधि विवादास्पद है। मनुस्मृति-रचना के तैथिक प्लुत (फ्लक्चुएशन) चतुर्थ शताब्दी ईसा-पूर्व[1] से चतुर्थ शताब्दी ई०[2] तक अनुमानित हैं। बुहलर नामक विद्वान की अनुमिति है कि दूसरी शताब्दी ई० पू० से दूसरी शताब्दी ई० तक[3] मनु के काल को निर्धारित किया जा सकता है। परन्तु बुहलर की परिकल्पना उपर्युक्त दो छोरों का मात्र मध्यम मार्ग है, जो मान्य नहीं है। श्री आयंगर का विचार है कि जिस प्रकार बृहस्पति-स्मृति के रचनाकाल को ईसा के २०० वर्ष पूर्व मान्य किया जाता है, वैसे ही वही काल मनुस्मृति का भी संभावित है[4]। प्रसिद्ध विद्वान जाली की मान्यता है कि मनुस्मृति के काल को ६ठी या ७वीं शताब्दी ई० के पूर्व नहीं माना[5] जा सकता। यद्यपि मायर[6] एवं जाली के निष्कर्षों में अत्यधिक अन्तर विधा के संबंध में नहीं है, परन्तु अवान्तर भेद यह है कि जाली ने गौतम, मनु एवं याज्ञवल्क्य की कृतियों को नारद (५०० ई०) से पूर्व स्वीकारा है,[7] जबकि मायर की दृष्टि में नारद को ईसा से अनेक वर्षों पूर्व माना जाना चाहिए तथा मनु, याज्ञवल्क्य एवं गौतम के पूर्व तो नारद को निश्चय ही माना जा सकता है। उपर्युक्त तुलनात्मक तिथि-क्रम की मान्यताएं आग्रहवेष्ठित ऐतिहासिकों एवं विद्वानों की हैं, जो नितान्ततः भारतीय वाङ्मय के संदर्भ में सर्वथा सत्य एवं स्तुत्य नहीं हैं। भारतीय वाङ्मय के संदर्भ में मनु की ऐतिहासिकता अनुलिखित पंक्तियों में ध्यातव्य है।

ऋग्वैदिक मनु

मनु को ऋग्वेद में प्रथम अग्निहोत्र का कर्ता कहा गया है।[8] ऋग्वेद (८/५२/११) में मनु को विवस्वन् और सांवरणि (८/५१/११) नामों से भी अभिहित किया गया है, जिनमें से लुण्डविग ने सांवरणि को तुर्वशी का राजा कहा है परंतु यह संदिग्ध है। मनु जड़-चेतन

सृष्टि के नियंता हैं।[५] इसी उपाख्यान को विभिन्न संस्कृतियों के साहित्य में उदाहृत किया गया है। ऋग्वेद के अनेक मंत्रों में मनु का उल्लेख अनेक संबंधों में हुआ है, जिससे यह प्रमाणित होता है कि मनु ऋग्वैदिककालीन पुरुष थे।[५०]

उत्तरवैदिक मनु

अथर्ववेद[५१], तैत्तिरीय संहिता[५२], काठक संहिता[५३], शतपथ ब्राह्मण[५४], जैमिनीय ब्राह्मण[५५], जैमिनीय उपनिषद्[५६], ऐतेरेय ब्राह्मण[५७], तैत्तिरीय ब्राह्मण[५८] आदि ग्रन्थों में 'जलप्लावन' के मनु का उल्लेख हुआ है जो सृष्टि के प्रारंभकर्त्ता माने गये हैं। मनु की पत्नी 'मानवी' का भी उल्लेख हुआ है, जिससे यह प्रमाणित होता है कि मनु मात्र भाववाचक संज्ञा नहीं, प्रत्युत् मानवीय गुण-धर्मों से युक्त सकाम पुरुष थे।

महाकाव्यों में मनु—

वाल्मीकि-रामायण[५९] में जलप्लावन-कथा का उल्लेख है, जिसका नायक वेदों से चला आ रहा मनु ही है। मनु का रामायण में यह उल्लेख प्रमाणित करता है कि मनु कोई महान् पुरुष थे, जो किन्हीं श्रेष्ठ कार्यों के कारण भारतीय संस्कृति में प्रसिद्ध रहे तथा जिनकी कीर्ति-गाथाओं, उपाख्यानों एवं उद्धरणों का उल्लेख रामायण में भी करना आवश्यक माना गया। महाभारत में मनु को मनु, स्वायम्भु मनु[६०], तथा प्राचेतस् मनु[६१] कहा गया है। शान्तिपर्व में उल्लेख है कि एक लाख श्लोकों में ब्रह्मा ने धर्म को लिखा, जिसे मनु ने उद्घोषित किया[६२] और उससे संबंधित ग्रन्थ का प्रणयन किया। महाभारत को पुरातत्त्वविद् डा० बी० बी० लाल ने हस्तिनापुर के उत्खनन के आधार पर ९००-१२०० ई० पू० माना है।[६३] इस दृष्टि से मनुस्मृति (या मनु) का काल उक्त अवधि से पूर्व प्रमाणित होता है, क्योंकि व्यास ने मनु का उल्लेख किया है जो प्रमाणित करता है कि महाभारत मनुस्मृति का ऋणी है। महाभारत में ही रामोपाख्यान[६४] का भी उल्लेख है, जिससे रामायण महाभारत से प्राचीन ग्रन्थ सिद्ध होता है, परन्तु रामायण में भी मनु का उल्लेख है जिससे यह सम्भावना की जा सकती है कि रामायण से पूर्व मनु थे। इन दोनों महाकाव्यों के उल्लेखों से यही प्रमाणित होता है कि मनु महाकाव्यों की रचना से पूर्व एक प्रसिद्ध महापुरुष के रूप में विख्यात थे।

पुराणों में मनु

पुराणों में मनु एक पुष्कल प्रयोग है। वैदिक, उत्तर-वैदिक, रामायण-महाभारत से परम्परागत रूप में प्रचलित उपाख्यानों का प्रतीकात्मक वर्णन पुराणों में मिलता है। पुराणों के काल के संबंध में अत्यधिक विवाद है, परंतु आधुनिक विद्वानों ने पुराणों के काल को महाकाव्यों के पश्चात् सामान्यतया स्वीकार किया है।[६५] ज्ञात होता है कि मनु के उपदेश, व्यवस्था एवं विधि-निषेध समाज के लिये आदर्श थे,[६६] जिनका पालन वैदिक काल से पुराणों के काल तक मूल रूप में परिवर्तन एवं परिवर्द्धन होते हुए चला आया[६७] और जिनमें आनुषंगिक कथाओं का मिश्रण भी होता रहा। मनु के मूल आदेश में नवीन सामाजिक आवश्यकताओं एवं कुछ व्यक्तिगत हितों को ध्यान में रखते हुए विद्वान प्रक्षिप्तांश का योगदान करते रहे।[६८] अष्टादश पुराणों में मनु का जो विवरण है, वह उनकी महानता एवं प्राचीनता का परिचायक है। ब्रह्मपुराण,[६९] विष्णुपुराण (मन्वादि गदितानि[७०], प्रणेता मनुः[७१]), वामनपुराण (मनुः स्मृतीनां प्रवरो यतश्चैव[७२], भोग्यानि मनुरब्रवीत[७३]), अग्निपुराण[७४], गरुड़पुराण[७५], लिंगपुराण[७६], वाराहपुराण[७७], मत्स्यपुराण[७८], नारदीय पुराण[७९], वायुपुराण[८०], ब्रह्माण्डपुराण[८१], पद्मपुराण[८२], स्कन्दपुराण[८३], कूर्मपुराण (स्वायम्भुवो मनुः पूर्वं धर्मानि प्रोवाच[८४], भगवादयस्तद्वचनम् श्रुत्वा धर्मान् उचिरे[८५], चातुर्वैण्यें ब्रवीन्मनु[८६], ऋषीणां शृण्वतां पूर्वं मनुराह प्रजापतिः[८७], प्रोवाच भगवान् मनुः[८८], मनुः त्यागं समब्रवीत[८९], भक्ष्याः पचनरवानित्यं मनुराह प्रजापतिः[९०], एतत् पंचविधं श्राद्धं मनुनापरिकीर्तितम्[९१], मनुः प्राह प्रजापतिः[९२], इत्येव मानवो धर्मो युष्माकं कथितो मया[९३]) के उल्लेख मनु के प्रभाव को प्रमाणित करते हैं। पुराण काल तक मनु के सामाजिक एवं धार्मिक नियम भारतीय समाज में सर्वोपरि प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे। जलप्लावन की वैदिक

न दोनों महाकाव्यों के उल्लेखों
ीता है कि मनु महाकाव्यों की
द्ध महापुरुष के रूप में विख्यात

पुष्कल प्रयोग है । वैदिक, उत्तर-
भारत से परम्परागत रूप में
का प्रतीकात्मक वर्णन पुराणों में
ं के काल के संबंध में अत्यधिक
ुनिक विद्वानों ने पुराणों के काल
ात् सामान्यतया स्वीकार किया
कि मनु के उपदेश, व्यवस्था एवं
के लिये आदर्श थे,[३३] जिनका
से पुराणों के काल तक मूल रूप
रिवर्द्धन होते हुए चला आया[३४]
क कथाओं का मिश्रण भी होता
ादेश में नवीन सामाजिक आवश्य-
तगत हितों को ध्यान में रखते हुए
ा योगदान करते रहे।[३५] अष्टादश
ी विवरण है, वह उनकी महानता
ा परिचायक है । ब्रह्मपुराण,[३६]
दि गदितानि[३७], प्रणेता मनुः[३८]),
मनुः स्मृतीनां प्रवरो यथैव[३९],
३०]), अग्निपुराण[३१], गरुडपुराण[३२],
हुपुराण[३३], मत्स्यपुराण[३४], नारदीय
[३५], ब्रह्माण्डपुराण[३६], पद्मपुराण[३७],
र्मपुराण (स्वायम्भुवो मनुः पूर्वं
गवादयस्तदवचनम् श्रुत्वा धर्मान्
ब्रवीन्मनुः[३८], ऋषीणां शृण्वतां पूर्वं
, प्रोवाच भगवान् मनुः[३९], मनुः
भव्याः पचनरवानित्यं मनुराह
चविध श्राद्धं मनुनापरिकीर्तितम्[४०],
तिः[४१], इत्येव मानवो धर्मो यूष्माकं
के उल्लेख मनु के प्रभाव को प्रमा-
पुराण काल तक मनु के सामाजिक
यम भारतीय समाज में सर्वोपरि
चुके थे। जलप्लावन की वैदिक

कथा में भी मनु नायक के रूप में आता है[४२] । मनु-स्मृति में वैदिक वाङ्मय के अतिरिक्त अन्य किसी ग्रन्थ का नाममात्र भी उल्लेख नहीं है, जबकि मनु का उल्लेख समस्त प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध है। दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या मनु ने अपने ग्रन्थ रचने की तिथि के विषय में कोई उल्लेख किया है या मौन हैं ? मनुस्मृति के अध्ययन से ज्ञात होता है कि मनु ने अपनी स्मृति में अपनी तिथि का उल्लेख किया है, जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सातवें वैवस्वत मन्वन्तर में उन्होंने इस स्मृति की रचना की[४३] ।

कुछ विद्वानों का कथन है कि आज की मनुस्मृति का मूल मानव धर्मसूत्र था । मैक्समूलर ने यहाँ तक कह दिया, "इसमें कोई सन्देह नहीं कि सभी सच्चे धर्म-शास्त्र, जो आज विद्यमान हैं, प्राचीन कुल-धर्मों वाले सूत्रों के—जो स्वयं किसी न किसी वैदिक चरण से प्रारम्भिक रूप में संबंधित थे—संशोधित रूप हैं।"[४४] परन्तु मैक्समूलर का यह अनुमान बाधक है ।

अन्त:साक्ष्य

कुछ विद्वानों ने इतिहास के ज्ञात राजनीतिक तथ्यों के आधार पर स्मृतियों में उल्लिखित सूत्रों का समीकरण मनुस्मृति के तिथिक्रम के निर्धारण में किया है । डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने मनुसंहिता[४५] में उल्लिखित 'सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च । सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्र विदर्हति[४६] ।। यथा जात-बलोवह्निर्दहत्यार्द्रानपि द्रुमान । तथा दहति वेदज्ञः कर्मज दोषमात्मजम् ।।[४७] हत्वालोकानपीमांस्त्रीन-श्नन्नपिपासतः । ऋग्वेदं धारयन्विप्रो नैनं पाप्नोति किंचन[४८] ।। श्लोकों के आधार पर शुंगकालीन पुष्य-मित्र शुंग को इन श्लोकों के अनुरूप कार्य-व्यवहार का कर्ता बताया है। इसी आधार पर उन्होंने मानव धर्म-संहिता के रचनाकार मनु को शुंगकाल का स्वीकारा है ।[४९] परन्तु इतिहास में ब्राह्मणों में से केवल पुष्यमित्र शुंग ने ही राज्य नहीं किया है, अन्य अनेक ब्राह्मण वंशों (कण्व, सातवाहन आदि) ने भी राज्य किया है। इस कारण जायसवाल द्वारा निर्धारित मनु का काल एकांगी होने कारण उसे मान्य करने में स्वाभाविक शंका उपस्थित होती है। श्री केतकर ने भी दो ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर मनुस्मृति के काल को २२७ ई० से ३२० ई० तक प्रमाणित करने का प्रयास किया है।[५०] मनुस्मृति में यह उल्लेख है कि आन्ध्र जाति वैदेहक, कारावर तथा निम्न जातियों के मिश्रण से बनी है।[५१] इस आधार पर केतकर महोदय का यह अनुमान है कि आन्ध्र नृपतियों के राजत्वकाल में इस प्रकार लिखना संभव न होता। यह संभवतः २२७ ई० के बाद जब आन्ध्र राजवंश समाप्ति पर रहा होगा, तभी लिखा गया होगा।[५२] केतकर का दूसरा तर्क है कि मनुस्मृति में लिच्छवियों को व्रात्य कहा गया है,[५३] अतः यह उल्लेख ३२० ई० या गुप्तों के उदय से पूर्व का होगा, क्योंकि गुप्त लिच्छवियों के संबंध से अपने को गौरवान्वित समझते थे। इसलिये गुप्तों के राजत्व-काल से ही पूर्व यह उल्लेख किया गया होगा।[५४] इसी परम्परा में बर्नेल ने एक भिन्न निष्कर्ष अपने मनु-स्मृति के अनुवाद की भूमिका में दिया है[५५] कि मनु-संहिता को मानव संहिता कहा जाता है, जिसका संबंध ब्राह्मण गोत्रीय 'मानवों' से है जो कृष्ण यजुर्वेद के अनुगामी थे । अभिलेखों में वातापी के चालुक्यों को 'मानव' कहा गया है, अतः बर्नेल के मत से कल्याणपुर के चालुक्य शासक पुलकेशी के शासनकाल (५०० ई०) में मनु-स्मृति की रचना हुई । बर्नेल उस श्लोक का उदाहरण देते हैं जिसमें मनु ने ब्रह्मर्षि देश के ब्राह्मणों को श्रेष्ठ गुरु कहा है, अतः बर्नेल के अनुसार मनु स्वयं भी पंजाबी ब्राह्मण थे ।

मन्वन्तर का अर्थ

समाजशास्त्रीय दृष्टि से मन्वन्तर का अर्थ मनु का परिवर्तन है। मनु अपने को भिन्न-२ वर्णों (रंगों) में परिवर्तित करते रहते हैं। पुराणों में मनुओं के चतुर्दश नामों के अतिरिक्त मनु के रंगभेद के आधार पर भी १४ नाम हैं—श्वेत, पाण्डु, रक्त, ताम्र, पीत, कपिल, मिश्र, श्याम, धूम्र, सुधूम्र, अपिरांग, पिरांग श्वत्व और कालधुर । इस नामक्रम से मनु का विकास श्वेत और काले या प्रकाश और अन्धकार या देवत्व और असुरत्व के मध्य होता हुआ माना

गया है । श्रीमद्भागवत् पुराण में मन्वन्तरों का 'सद्धर्म' नामकरण किया गया है ।[९५] इसके अतिरिक्त मनु के दो रूप और हैं: (१) धन, (२) ऋण । इन रूप-द्वय के आधार पर उनको पुनः १४ रूपों में विभक्त किया गया है, जो जैन दर्शन के १४ गुण-स्थानों की कल्पना के आधार पर हैं—मिथ्यात्व, सास्वादन, मि. अविरत, सम्यक् दृष्टि, देशविरति, संयतासंयति, प्रमत्तसंयति, अप्रमत्तसंयति, निवृत्ति-बादर (अपूर्वकरण), अनिवृत्तिबादर, सूक्ष्म सम्य, उपशान्त मोह, उपशान्त कमाय, संयोग केवली और अयोगि केवली ।

वर्तमान मनुस्मृति याज्ञवल्क्य-स्मृति से प्राचीन है, क्योंकि मनुस्मृति में न्यायविधि संबंधी बातें अपूर्ण हैं और याज्ञवल्क्य-स्मृति में पूर्ण हैं । मनुस्मृति में यवनों, कम्बोजों, शकों, पहलवों एवं चीनों के नाम लिये गये हैं, अतः यह ईसापूर्व तीसरी शताब्दी से पूर्व की नहीं हो सकती ।[९७] यवन, कम्बोज एवं गान्धार लोगों का वर्णन अशोक के पांचवें प्रस्तर-प्रज्ञापन में आ चुका है । वर्तमान मनुस्मृति गठन एवं सिद्धान्तों में गौतम, बोधायन, आपस्तम्ब आदि प्राचीन धर्मसूत्रों से बहुत आगे है, अतः इसकी रचना धर्म-सूत्रों के उपरान्त हुई होगी । इन तथ्यों से यही प्रकट होता है कि वर्तमान मनुस्मृति की रचना ईसापूर्व दूसरी शताब्दी तथा ईसा के उपरान्त दूसरी शती के बीच कभी हुई होगी ।[९८]

बुहलर का कथन है कि विद्यमान मनुस्मृति पद्यबद्ध है । इसमें पद्य एवं गद्य का आना इस बात का द्योतक है कि इसने मानव धर्मसूत्र से उधार लिया है । परन्तु काणे का कथन है कि मानव धर्मसूत्र का कोई अस्तित्व नहीं है ।[९९] मनु को अपने पूर्व के साहित्य का पर्याप्त ज्ञान था । उन्होंने तीन वेदों के नाम लिये हैं । अथर्ववेद को अथर्वांगिरसी श्रुति (११—३३) कहा है । मनु-स्मृति में आरण्यक और वेदांगों की भी चर्चा आयी है । उन्होंने अत्रि, उतथ्यपुत्र (गौतम), भृगु, शौनक, वशिष्ठ, वैखानश आदि का उल्लेख किया है । इससे मनु की प्राचीनता का अनुमान किया जा सकता है और प्रकट होता है कि मनुस्मृति एक प्राचीन व्यक्ति की प्राचीन रचना है ।

बाह्य साक्ष्य

अद्यतन उपलब्ध स्मृतियों में धर्म-प्रवर्तकों एवं धर्म-सूत्रकारों की नामावली सुरक्षित है[१००], जिनमें अधिकांश प्रभावी रूप से मनु के नाम का उल्लेख है जिसकी पुष्टि अन्य विद्वानों ने की है । मनु ने शौनक तथा उतथ्य के पुत्र अत्रि के विचारों को उद्धृत किया है ।[१०१] इन उद्धरणों से तैथिक निकटता की सम्भाव-नाओं का मापन किया जा सकता है ।

मनुस्मृति के अतिरिक्त अन्य स्मृतियों के सापेक्षात्मक संदर्भ में मनु, मनुस्मृति और मानवधर्म का ऐतिहा-सिक कालनिर्धारण संभव है । गौतम के अनुसार मनु के अतिरिक्त और कोई स्मृतिकार नहीं है, यद्यपि गौतम धर्मसूत्रों के रचनाकार हैं जो ऐतिहासिक काल-क्रम की दृष्टि से स्मृतियों के पूर्व माने जाते हैं ।[१०२] बोधायन और वशिष्ठ जैसे सूत्रकार मनु का उल्लेख करते हैं, इसलिये काणे का मत है कि गौतम, बोधा-यन और आपस्तम्ब धर्मसूत्र तथा मनुस्मृति ईसा से ६०० वर्ष पूर्व से लेकर ३०० वर्ष पूर्व के मध्य लिपि-बद्ध किये गये हैं ।[१०३] काणे महोदय के विपरीत एल-फिन्सटन महोदय मनु को नवीं शताब्दी ई० पू० में मानते हैं ।[१०४] याज्ञवल्क्य-स्मृति के सहस्रों श्लोकों में मनुस्मृति की सामग्री भरी पड़ी है । विष्णुस्मृति के प्रायः १६० श्लोक मनुस्मृति से लिये गये हैं तथा अन्य स्मृतियाँ भी मनु की अनुकृति हैं । इस तुलनात्मक अध्ययन से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि मनुस्मृति अन्य स्मृतियों की अपेक्षा अधिक प्राचीन है, जिसके अनुकरण की परम्परा में अन्य विद्वानों ने स्मृतियाँ लिखीं । अस्तु, मनुस्मृति का काल उपर्युक्त साक्ष्यों के तुलनात्मक तथा सापेक्षात्मक ऐतिहासिक आनु-क्रमिक संदर्भ में १,००० ई० पू० अवश्य माना जाना चाहिए ।

मनुस्मृति की सबसे प्राचीन टीका मेधातिथि की है, जिसका काल ९०० ई० है । याज्ञवल्क्य के व्याख्या-कार विश्वरूप ने मनुस्मृति के लगभग २०० श्लोक उद्धृत किये हैं । वेदान्त-सूत्र के भाष्य में शंकराचार्य ने मनु को अधिकतर उद्धृत किया है । कुमारिल ने

तन्त्रवार्तिक में मनुस्मृति को सभी स्मृतियों से और गौतम धर्मसूत्र से भी प्राचीन कहा है। मृच्छकटिक[५८] ने मनु का उल्लेख किया है। वल्लभीराज धरसेन के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि ५७१ ई० में वर्तमान मनुस्मृति विद्यमान थी। जैमिनीसूत्र के भाष्यकार शबरस्वामी (५०० ई०) ने मनुस्मृति को उद्धृत किया है। अपरार्क एवं कल्पक ने भविष्यपुराण द्वारा उद्धृत मनुस्मृति के श्लोकों की चर्चा की है, जिससे यह प्रमाणित होता है कि स्मृतियों में मनु की स्मृति प्राचीन है।

मनुस्मृतिकाल

डा० हण्टर का कथन है कि ५०० ई०पू० मनु ने एक शास्त्र उत्तरी भारत के ब्राह्मणों की एक प्रणाली और नियमादि प्रबन्ध के लिये बनाया।[५९] अन्य यूरोपीय विद्वानों का कथन है कि यह पुस्तक ९०० वर्ष ई०पू० लिखी गयी।[६०] बम्बई के भू०पू० गवर्नर श्री एलफिन्स्टन इस तिथि से सहमत हैं।[६१] डा० हण्टर मनु को ५०० ई०पू० और महाभारत के रचनाकार व्यास को १२०० ई०पू० मानते हैं। परंतु महाभारत में व्यास ने स्वयं मनुस्मृति का स्मरण किया है,[६२] अतः हण्टर का कालनिर्धारण उन्हीं के कथनों से खंडित हो जाता है। छान्दोग्य ब्राह्मण में भी मनु को प्रणाम किया गया है—"मनुर्वै—यत्किंचिदवदत्तद्भेषजं भेषजतायाः"। बृहस्पति ने सभी स्मृतियों में मनुस्मृति को वेदानुकूल होने से प्रधान माना है।[६३] पराशर, जिन्हें यूरोपीय विद्वान प्राचीन ज्योतिषी मानते हैं और १२८१—९१ ई०पू० मानते हैं[६४] वे भी अपनी स्मृति में मनु को उदाहृत करते हैं।

ऐतिहासिक संदर्भों की समीक्षा

डा० सत्यमित्र दूबे का मत है कि मनुस्मृति के मनु को कोई ऐतिहासिक पुरुष न मानते हुए भी हम इतना मान सकते हैं कि वैदिक सभ्यता के आरम्भिक चरण में संभव है मनु नाम के कोई पुरुष हुए हों, जो शक्ति बुद्धि और विद्वत्ता में उस युग में श्रेष्ठ रहे हों और समय के परिवर्तन के साथ उनकी ऐतिहासिकता पौराणिकता का रूप ग्रहण कर गयी हो।[६५] श्री दूबे का कथन है कि हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि मनुस्मृति अथवा मानव धर्मशास्त्र में वर्णित नियम लम्बी परंपरा की देन हैं और उसे किसी एक व्यक्ति की रचना मान लेना भूल होगी।[६६] परन्तु हमारे विचार से दूबे जी का यह मत स्वीकार्य नहीं, क्योंकि यही तर्क सभी स्मृतियों के संबंध में प्रतिपादित किया जा सकता है, जो वास्तविक तथ्यों पर सटीक और समीचीन नहीं प्रतीत होता। डा० केवल मोतवानी की धारणा है कि मनु का नाम, जिसका ऋग्वेद में विशेष स्थान है, आर्यों के द्वारा उन स्थानों पर ले जाया गया (गोवी के मरुस्थल से आर्यों का निष्क्रमण जापान, चीन, फारमूसा, भारत, ईरान, सुमेरु और यूरोप को) जहाँ वे गये और अपनी शिक्षाओं का प्रतिपादन किया, जिनको हम धर्म कह सकते हैं और इतिहास के प्रारम्भिक काल से ही जो भारत में प्रयुक्त रहे हैं। परन्तु मोतवानी महोदय एक विवादास्पद प्रश्न[६७] से विवादास्पद समस्या का समाधान और अधिक विवादास्पद बना देते हैं, क्योंकि आर्यों का मूल स्थान अद्यावधि इतिहासकारों के लिये विवादास्पद है। किसी एक स्थान को, निश्चित साक्ष्यों के अभाव में आर्यों का मूल निवास-स्थान मान लिया गया है तथा जापान, चीन, फारमूसा को आर्यों के निष्क्रमण का सिद्धान्त भी मान्य नहीं है। सर्वाधिक चिन्तनीय यह विचार है कि मनु सभी निष्क्रमित स्थानों में प्रचारित हुआ, किन्तु मानवधर्म (मनु-उपदिष्ट धर्म) का विलोप सभी स्थानों से क्यों हो गया? और भारत में आद्यान्त प्रचलित क्यों है? इसका समाधान मोतवानी महोदय नहीं दे पाते, अतः उनकी मान्यता मान्य नहीं है। फ्रांसीसी विचारक रेनिगिनो ने मनु शब्द के साथ किसी भी प्रकार के ऐतिहासिक पुरुष के विचार को जोड़ देने की प्रवृत्ति का विरोध करते हुए कहा है कि यह सिद्धान्तों का नाम है, जिसकी मूल धातु 'मन्' है जिसका अर्थ 'सार्वभौम बुद्धि अथवा विचार' है और इसीसे 'मानव' शब्द की उत्पत्ति हुई है।[६८] परन्तु कुरान, बाइबिल तथा एशिया, यूरोप, अमेरिका, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका, मिस्र, बेबिलोनिया, सुमेरु की कथाओं में मनु की जलप्लावन-कथा[६९] प्रशस्त एवं प्रख्य रूप में वर्णित है तथा मैन, मानुष, मानव, मानक, माण्ड संज्ञावाचक शब्दों की व्युत्पत्ति को भी

ध्यान में रखना होगा, जो मात्र सार्वभौम विचार के द्योतक नहीं हैं।[९०] अतएव रेनिगिनो की क्लिष्ट कल्पना ऐतिहासिकता की दृष्टि से स्वीकार्य नहीं है।

मन्वन्तर-कालगणना

शुक्रनीति[९१] के अनुसार मन्वन्तर का अर्थ अमुक घटना या अमुक व्यक्ति का समय ज्ञात करने के लिये पौराणिक पद्धति है।[९२] विष्णुपुराण के अनुसार[९३] अक्षपलकपात को एक निमेष कहते हैं, पन्द्रह निमेष की एक काष्ठा, तीस काष्ठा की एक कला, तीस कला की एक घड़ी, दो घड़ी का एक मुहूर्त, तीस मुहूर्त का एक अहोरात्रि, तीस अहोरात्रि का दो पक्षयुक्त एक मास, ६ मास का एक अयन, दो अयनों का एक मानव-वर्ष, एक मानववर्ष का देवताओं का एक दिन, दिव्य १२ हजार वर्षों की एक चतुर्युगी, एक हजार चतुर्युगी का ब्रह्मा का एक दिन होता है जिसमें चौदह मनु व्यतीत होते हैं। ऐसे १४ मनुओं के नाम विष्णुपुराण[९४] के अनुसार अनुलिखित हैं—(१) स्वायम्भुव (२) स्वारोचिष (३) उत्तम (४) तामस (५) रैवत (६) चाक्षुष (७) वैवस्वत (८) सावर्णिक (९) दक्षसावर्णिक (१०) ब्रह्मसावर्णिक (११) धर्मसावर्णिक (१२) रुद्रसावर्णिक (१३) देवसावर्णिक (१४) इन्द्रसावर्णिक, जिनका संकल्प रूप में स्मरण भारतीय शुभ कर्मों के अवसर पर करते हैं, "ब्रह्मणो द्वितीयपरार्द्धे श्री श्वेतवाराहकल्पे वैवस्वतमन्वन्तरेऽष्टाविंशतितमे कलियुगे कलि प्रथम चरणे..." इत्यादि, अर्थात् ब्रह्मा की आयु के ५० वर्ष पूर्ण होने पर दूसरे 'पर' अर्द्ध में और श्वेतवाराह नामक कल्प में तथा वैवस्वत नाम के सातवें मनु के अन्तर में और अट्ठाइसवें कलियुग के प्रथम चरण में (मैं अमुक काम करता हूँ)। तात्पर्य यह है कि इस समय जो कलियुग है, वह सातवें मनु का अट्ठाइसवाँ कलियुग है, अभी जिसका प्रथम चतुर्थांश ही चल रहा है, जिसकी गणना अनुलिखित है।[९५]

गत ६ मनुओं के वर्ष	१,८४,०३,२०,०००
उनकी सात संधियों के वर्ष	१,२०,९६,०००
सातवें मनु की गत २७ चतुर्युगी के वर्ष	११,६६,४०,०००
अट्ठाइसवीं चतुर्युगी के भुक्त वर्ष	३८,९३,०८१
योग	१,९७,२९,४९,०८१

इस प्रकार विक्रमाब्द २०३७ पर्यन्त सृष्टि के आरम्भ से एक अरब सतानबे करोड़ उनतीस लाख इक्कासी मानववर्ष हो चुके हैं।[९६] आचार्य चतुरसेन शास्त्री वैवस्वत मन्वन्तर से ही वर्तमान सृष्टि के क्रम को स्वीकारते हैं तथा मनु से राम तक के काल को १०९२ वर्ष मानते हैं।[९७] इस कालगणना के अनुसार तो मनु का ऐतिहासिक काल लाखों वर्ष पूर्व जा पहुँचता है।

उपर्युक्त ऊहापोह, ऋग्वैदिक, उत्तरवैदिक, महाकाव्य व मनुस्मृति के अन्तः साक्ष्य एवं बाह्य साक्ष्य, ऐतिहासिक संदर्भ एवं मन्वन्तर काल-गणना के संदर्भ से मनु एक ऐतिहासिक पुरुष प्रमाणित होते हैं, परन्तु मनु का काल लाखों वर्ष ई०पू० से ३२० ई० तक विद्वानों ने आगणित करने का प्रयत्न किया है। कुछ विद्वानों ने मनु को मन का एक भाव मानकर मानवीय भावनाओं या मनोवृत्तियों के साथ सम्बद्ध किया है और वे आदिमकाल से मन के श्रेष्ठ भावों तथा अद्यावधि श्रेष्ठ नियमों को मनु के प्रतीक रूप में स्वीकारते हैं। परन्तु कुछ विद्वान मनु को सकाम आदि पुरुष के रूप में स्वीकारते हुए यह मानते हैं कि मनु सृष्टि के आदि-पुरुष, समाज-व्यवस्थापक, प्रशासक तथा धर्म, अर्थ, राजनीति, संस्कृति एवं सभ्यता के आदि प्रवर्तक थे, जिन्होंने सूत्ररूप में मानवीय कल्याण के लिये ऋग्वैदिककाल से चले आ रहे सदाचार एवं नैतिकता को धर्म के नियमों में आबद्ध कर समाज के समक्ष प्रस्तुत किया। भारतीय समाज एवं संस्कृति के पोषक विद्वान तदनुरूप स्वीकारते हैं, किन्तु ऐतिहासिक संदर्भों की समीक्षा करने वाले आधुनिक विद्वान यह निष्कर्ष देते हैं कि मनु नामक कोई व्यक्ति था, जिसके उपदेश, आदेश तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों में मान्य रहे। कालान्तर में सामाजिक समस्याओं तथा अन्य आग्रहों के कारण ये आदेश परिवर्तित एवं परिवर्द्धित होते रहे, जिससे मनुस्मृति का रूप कतिपय श्लोकों से बढ़कर एक बृहद् ग्रन्थ के रूप में मनु के नाम पर ही ई०पू० नवीं शताब्दी में विकसित हुआ जैसे कि आदि

शंकराचार्य के पश्चात् आज भी उस पीठ के पीठासीन व्यक्ति शंकराचार्य के नाम से ही भारतीय समाज में प्रतिष्ठित हैं।

—*प्राचीन इतिहास विभाग, श्री गांधी महाविद्यालय, आजमगढ़, उ०प्र० तथा **प्रधानाचार्य, उ० मा० वि०, भटवली बाजार, गोरखपुर, उ० प्र०

संदर्भ :

१. बटेकृष्ण घोष—एज आफ मनु संहिता, इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, वाल्यूम ३, पृ० ८००-१३
२. मैक्समूलर—इण्डिया : ह्वाट इट कैन टीच अस, पृ० ३६६
३. बुहलर— लाज आफ मनु (एस० बी० ई० वाल्यूम २५), भूमिका पृष्ठों पर
४. आयंगर— बृहस्पति-स्मृति, इण्ट्रोडक्शन, पृ० १८५
५. जाली—हिन्दू लाज एण्ड कस्टम
६. मेयर—पृ० १०३
७. जाली—हिन्दू ला एण्ड कस्टम
८. ऋग्वेद १/८०/११६,२/३३/१३,८/१६३/१ आदि
९. ऋग्वेद १/५४/११,३/३४/३
१०. वही
११. अथर्व० १४/२।४१
१२. तै० सं० १/५/१/३,७,५/१५/३,२/५/१/५,२/५/६/१ आदि
१३. काठक० ८।१५
१४. शत० ब्राह्मण १/१/४/१४
१५. जै० ब्राह्मण ३/१५/२
१६. जै० उप० २/२/३१
१७. ऐत० ब्राह्मण ५/१५/३२
१८. तै० ब्राह्मण २/२/१/३
१९. युद्धकाण्ड २४/७/१५
२०. शान्ति० २१-२२
२१. वही ३८-४६
२२. वही ५७/४३
२३. डा० बी० बी० लाल—एक्सकेवेशन ऐट हस्तिनापुर
२४. फादर कामिल बुल्के —रामायण—रामकथा
२५. काणे— धर्मशास्त्र का इतिहास—पूर्व-पीठिका
२६. पं० भीमसेन शर्मा—मनु० भूमिका
२७. म० म० आर्यमुनि—मानवार्य भाष्य
२८. ईश्वरी प्रसाद 'प्रेम'—शुद्ध मनुस्मृति—भूमिका
२९. यदप्युक्तं हि मनुना... (२२०/१८७)
मनुना यदुदीरितम्... (२२७/४९-५१)
मनुरप्याहवेदार्थम्... (२३३/६०-६२)

३०. विष्णुपुराण १/२२/८२ ३१. विष्णुपुराण ३/२/४५
३२. वामनपुराण १२/४८
३३. वही १५१/६७ ३४. १५१/१, १५१/२, १६२/१-२
३५. गरुड़पुराण १/७३/१७, १/९३/४, १/१०७/२
३६. १/२७, १/३९/६४ ३७. ६८/१०, १८७/१००
३८. १५२/४२-४३,२२७/३२ ३९. १/२४/६, १/३०/३४
४०. ५७/४१-४६, ४१. १/२९/४६, १/२९/५१
४२. ६/२२३/४९/५० ४३. कुमारिका० ४०/२०८-२०९
रेवा० १०३/१६०-६१
द्वारका० २३/१३२, २६/५३
नागर० १४४/१३२-३३, १६७/४३-४४, १७२/९, २२३/४
प्रभास० २०५/५९, वस्त्रापथ १४/५५
४४. कूर्मपुराण १/२/३७ ४५. वही १/२/३८
४६. वही १/२/६८ ४७. वही २/२/२
४८. वही २/१२/४३ ४९. वही २/१४/२५
५०. वही २/१७/३५ ५१. वही २/२०/२६
५२. वही २/२३/८ ५३. वही २/३४/१४४
५४. शतपथ ब्राह्मण १/८/१/१, काठक संहिता ११-२
५५. आब्दानांदशखंसहस्रदशकं यातं च सत्ये युगे
भाद्रे मासि कृतामया हि मनुनाब्रह्माज्ञया पूर्णिमा। १/६१-६३
५६. हिस्ट्री आफ ऐंशिएन्ट संस्कृत लिटरेचर, पृ० १३४-३५
५७. जायसवाल—मनु एण्ड याज्ञवल्क्य, पृ० ३२-३३
५८. मनु० १२/१००
५९. वही १२/१०
६०. वही ११/२६०
६१. जायसवाल—मनु एण्ड याज्ञवल्क्य, पृ० ४३-४४
६२. एस० वी० केतकर—हिस्ट्री आफ कास्ट इन इण्डिया, खण्ड १, पृ० ६२
६३. मनुस्मृति १०/३६,४८
६४. केतकर—हिस्ट्री आफ कास्ट इन इण्डिया, पृ ६५
६५. मनुस्मृति १०/२२
६६. केतकर—हिस्ट्री आफ कास्ट इन इण्डिया, पृ०६६
६७. ए० सी० बर्नेल—दि आर्डिनेन्सेज आफ मनु, इन्ट्रोडक्शन, पृ० २५
६८. तत्रैव पृ० २६ ६९. श्रीमद्भागवत पुराण २/१०/१४
७०. पाण्डुरंग वामन काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ४६, द्वि० सं०
७१. वही

७२. वही
७३. मन्वत्रिविष्णु हारीत याज्ञवल्क्योशनांगिरा, यमापस्तम्बसंवर्ताः कात्यायन बृहस्पतिः । पराशर व्यासशंखलिखितादक्षगौतमो, शाततपे वशिष्ठश्च धर्मशास्त्रप्रयोजकाः ।
७४. मनुस्मृति ३/१६, वशिष्ठ ने हारीत यम, प्रजापति, मनु को—व० ध० सू० २/६
७५. पा० वा० काणे—धर्मशास्त्रों का इतिहास, भाग १
७६. वही
७७. हिस्ट्री आफ इण्डिया—पंचमावृत्ति, पृ० ११-१२
७८. ९-३९
७९. हण्टर – मुसवाहुलतवारीख
८०. तहकीकात हालात एशिया, भाग २, पृ० ११६
८१. ताजरात हिन्दुस्तान तितम्बा न० १, पृ० ४२५, सन् १८६६
८२. पुराणं मानवं धर्मं सांग वेदाश्चिकित्सितम् ।
८३. वेदार्थोपनिबन्धृत्वात्प्राधान्योहिमनोः स्मृतम् ।
मन्वर्थविपरीता तु यास्मृतिः सा नशस्यते ।
८४. ड्यूज—तहकीतात हालात एशिया, जिल्द २, पृ० २६८ तथा ब्रूक—तहकीकात हालात एशिया, जिल्द ९ पृ० ३५६
८५. मनु की समाज-व्यवस्थाः—पृ० ४
८६. मनु की समाज-व्यवस्था
८७. केवल मोतवानी—मनु-धर्मशास्त्र
८८. रेनिगिनो – इन्ट्रोडक्सन टू दि स्टडी आफ हिन्दू डाक्ट्रिन, पृ० २-३
८९. जलप्लावन आख्यान—डा० श्रीराम गोयल, सरस्वती पत्रिका, इलाहाबाद, फरवरी १९६२
९०. पं० भगवद्दत्त— भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, पृ० १२७ तथा रघुनन्दन शर्मा—वैदिक सम्पत्ति, पृ० ३०
९१. सर्गश्च प्रतिसर्गश्च, वंशो मन्वन्तराणि च ।
९२. पं० माधवाचार्य शास्त्री—पुराण दिग्दर्शन, पृ० ३०१
९३. पंचमोध्याय—३/९,१०, १५, २२
९४. विष्णुपुराण—१०/३
९५. पं० माधवाचार्यशास्त्री—पुराणदिग्दर्शन, पृष्ठ ३०८
९६. सृष्टि का इतिहास—वेदप्रकाश मासिकपत्र, वर्ष ६, अंक १
९७. भारतीय संस्कृति का इतिहास, पृ० १०५-१३५

पुस्तक-समीक्षा

लोकतंत्र और भारत : लेखक : डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक : स्नेह सुमन, सार्वभौम संस्कृतिपीठ १०/१७, शक्तिनगर दिल्ली : पृष्ठ २३० : मूल्य १२.०० रुपये।

डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री की यह पुस्तक लोकतंत्र के आधारभूत तत्त्वों और सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए भारतीय जीवन में इनकी सफलता का विश्लेषण करती है। पुस्तक में गहन विश्लेषण, गंभीर चिंतन, संतुलित अध्ययन, संयत समीक्षा, तर्कसंगत प्रमाण, प्रौढ़ अभिव्यक्ति, मौलिकता और मार्मिकता से संपूर्ण विषय-प्रस्तुतीकरण अत्यन्त प्रभावशाली बन गया है। शास्त्री जी की अंतर्मुखी दृष्टि एवं तटस्थता ने इस मंथन-प्रक्रिया में अपूर्व योगदान किया है। लेखक का प्रेय ऐसा विश्वव्यापी लोकतंत्र है, जो जाति, मत, व्यवसाय, प्रदेश, भाषा और विचारधाराओं की सीमाओं को लांघ कर समस्त मानवता को एक ही परिवार का रूप बना दे, जहाँ सब कुछ अपना हो, पराया कोई भी नहीं हो। इसी दृष्टि के कारण लेखक किसी वाद से बंधा नहीं है। व्यापक मानवतावादी दृष्टि लेकर वे आधारभूत तत्त्वों की खोज में गहराई तक अवगाहन करते हैं और फिर उन तत्त्वों के स्वरूप को 'हस्तामलक' के समान स्पष्ट और साकार करते हैं।

'लोकतंत्र के बुनियादी सिद्धान्त' शीर्षक अपने अध्याय में लेखक का मत है कि लोकतंत्र उस व्यवस्था का नाम है, जो मनुष्य को अनेक प्रकार की दासताओं से मुक्त करती है। अतः 'स्वतन्त्रता' लोकतांत्रिक व्यवस्था का प्राण है। 'समतायोग' अथवा 'सामंजस्य' स्वतंत्रता की मर्यादा है और 'न्याय' समता का मानदण्ड अथवा परिष्कार। इसी प्रकार न्याय का चरम लक्ष्य है—अनंत 'मैत्री' अथवा 'बंधुत्व' की भावना।

मानव की सर्वोत्कृष्टता पर लेखक ने बलपूर्वक आग्रह किया है—उन्होंने शास्त्र को 'मानव बुद्धि का संकलन' और समाज-संस्था के इतिहास को 'मानव जागरण का ही रूपान्तर' माना है। परन्तु लेखक की दृष्टि तत्त्व-निष्ठ है, भौतिकवादी नहीं। उनके ही शब्दों में, "भौतिकवाद ने मूल्यांकन के जो आधार बनाये हैं, उनमें मानव की सर्वथा उपेक्षा की गयी है। उन धारणाओं के दूर होने पर ही वह अपने अस्तित्व को नये रूप में देखेगा और मूल्यांकन के नये आधार बनायेगा।" दृष्टि के इस परिमार्जन के लिये शास्त्री जी शिक्षा में ऐसे परिवर्तन लाना आवश्यक समझते हैं, जो 'समता, न्याय और मैत्री' की भावना के परिपोषक हों। तभी 'लोकतंत्र' का संगठन 'मानव-कल्याण' का साधन बन सकता है।

लेखक ने न केवल वेद, उपनिषद्, अद्वैत वेदान्त, बौद्ध और जैन दर्शन आदि भारतीय चिंतन-धाराओं का मनन, विश्लेषण और दोहन किया है, अपितु विदेशी विचारधाराओं और तत्त्वचिंतकों के मतों से अपने कथ्य को परिपुष्ट भी किया है। ऐतिहासिक विवेचन तथा तुलनात्मक अध्ययन गहनता, सूक्ष्मता एवं निष्पक्षता के साथ करने का प्रयत्न किया गया है। लेखक की इच्छा है कि भारत की कोटि-कोटि जनता विश्व की परिस्थितियों के प्रवाह में न बहे, अपनी प्रकृति के अनुकूल प्रगति करे। इस प्रगति-अभियान में व्यक्ति-व्यक्ति का समान रूप से योगदान हो, सहकार्य हो, श्रेय हो।

प्रत्येक चिंतनशील व्यक्ति के लिये विचारोत्तेजक पुस्तक है—डा० इन्द्र चन्द्र शास्त्री की कृति 'लोकतंत्र और भारत'।

—डा० चन्द्रकान्त भारद्वाज
हंसराज महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

भारतीय आर्य भाषाएं : लेखक डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक: स्नेह सुमन, सार्वभौम संस्कृति पीठ १०/१७ शक्तिनगर दिल्ली ; पृष्ठ १०५ ; मूल्य २२.०० रुपये।

भाषा-विज्ञान संबंधी यह पुस्तक डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री के उन भाषणों का संकलन है, जो उन्होंने स्नातकोत्तर सांध्य संस्थान, दिल्ली विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष के रूप में अपने विद्यार्थियों के समक्ष समय-समय पर दिये थे। इस कारण यह पुस्तक परीक्षार्थियों के लिये तो उपयोगी है, परन्तु स्वतंत्र चिंतन अथवा नवीन अनुसंधान की अपेक्षा इस कृति से नहीं की जा सकती। उदाहरणार्थ—विदेशी प्रमाणों के आधार पर यह मान लिया गया है कि आर्यों का भारत में बाहर से आगमन हुआ, उनसे पहले द्रविड़ परिवार के लोग यहाँ बसते थे और उससे भी पूर्व सुमेरियन सभ्यता यहाँ पर फैली और फली-फूली। एम० ए० के विद्यार्थियों के लिये सहायक पुस्तक के रूप में यह पुस्तक प्रयुक्त हो सकती है। इस प्रकार के पाठकों को कुछ नयी सामग्री भी इस पुस्तक में अवश्य मिलेगी।

—डा० चन्द्रकान्त भारद्वाज

संवाद

आपके समीक्षात्मक मूल्यांकन और सुविचारित मताभिव्यक्ति हेतु

आदरणीय पाठकवृन्द !

मंथन के माध्यम से कुछ विचार प्रस्तुत हैं, जिन्हें पढ़कर आशा है कि विद्वज्जन संबंधित समस्याओं पर गहन चिंतन करके अपनी सम्मतियाँ व्यक्त करेंगे। इस 'विचार-मंथन' का उद्देश्य चिंतन के सागर में ऐसी तरंगें उत्पन्न करना है, जिनसे बहुमूल्य, रचनात्मक और नवजीवन-संचार करने वाले विचार उद्भूत हों, जो राष्ट्र में कर्म-प्रेरणा का शक्तिशाली आधार बन सकें। हम इस राष्ट्रीय-विचार-संदोहन में विभिन्न सूत्रों पर अपना मत अभिव्यक्त करने के लिये आपका आह्वान करते हैं।

क्या राष्ट्र के पुनर्निर्माण में जीवन-दर्शन की आवश्यकता है ?

"स्वातंत्र्य-प्राप्ति के उपरान्त भारत के नेताओं ने जो सबसे बड़ी भूल की, वह यह है कि उन्होंने राष्ट्रीय पुनर्निर्माण में जीवन-दर्शन के महत्व की अवहेलना की। उन्होंने कल्पना की कि पाश्चात्य प्रविधि (तकनीक), विशाल बांधों के निर्माण, औद्योगीकरण और विद्यालयों तथा चिकित्सालयों की स्थापना मात्र से देश की समस्त समस्याओं का निराकरण हो जायेगा। इसी तर्क का अनुसरण करके महात्मा गांधी द्वारा प्रतिपादित आर्थिक-संरचना और जीवन-प्रणाली को तिलांजलि दे दी गयी। कुछ समय तक समाजवाद का अनुप्रयोग किया गया। परन्तु जीवन और यथार्थ से कट कर यह शब्द मात्र एक थोथा नारा रह गया है। सच्चाई यह है कि साम्यवाद-मुक्त विकासशील देशों में जीवन-दर्शन का नितान्त अभाव दिखायी देता है। इन देशों ने अत्यन्त सशक्त, सुसंगठित मार्क्सवादी जीवन-दर्शन का सामना करने में समर्थ किसी भी उपयुक्त सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक जीवनदर्शन का विकास करने में सफलता प्राप्त नहीं की। यही कारण है कि अनेक इस्लामी देशों में मुस्लिम मूलाधारवादी 'शरीयत' को पुनर्स्थापित करने की चेष्टा कर रहे हैं।

"आज भारत को आवश्यकता है एक सामाजिक-आर्थिक जीवन-दर्शन की, जो वेदान्त की मुक्ति एवं आत्मा की दिव्यता तथा विश्व की आध्यात्मिक अभिन्नता पर आधारित हो। साथ ही वह समाज से सभी प्रकार के सामाजिक वैषम्य, शोषण और भ्रष्टाचार का उन्मूलन कर, विविध मत-मतांतरों की अनेकता में एकता प्रस्थापित कर सके, विज्ञान और प्रविधि (तकनीक) को आत्मसात कर देश की जनता को जीवन की चुनौतियों का सामना करने की शक्ति प्रदान कर सके, राष्ट्र को व्यक्तिगत और समष्टिगत वैभव की ओर निरन्तर बढ़ते जाने की प्रेरणा दे एवं सेवा-प्रेम-ज्ञान के माध्यम से आत्मा की संपूर्ण संतृप्ति की ओर लेजा सके। ऐसा समग्र जीवनदर्शन ही लोकतंत्र को सार्थक बना सकता है।"

उपर्युक्त उद्धरण स्वामी विवेकानन्द द्वारा स्थापित रामकृष्ण मिशन की प्रख्यात मासिक पत्रिका 'प्रबुद्ध भारत' के मार्च १९८० अंक से संकलित है। मेरा विश्वास है कि यह उद्बोधन अत्यन्त विचारोत्तेजक है और इसका गहराई से विवेचन करना आवश्यक है।

निम्नलिखित कारणों से जीवन-दर्शन की घोषणा और व्याख्या आवश्यक है :

१. इससे राष्ट्रीय पुनर्निर्माण में जुटे हुए कार्यकर्ताओं को दिशाबोध प्राप्त होगा।

२. सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक नीतियों एवं कार्यक्रमों के लिये आधारभूत ढाँचा उपलब्ध होगा।

३. उपयुक्त और अभीष्ट जीवन-मूल्यों का आग्रह करके यह राष्ट्र की इच्छा-शक्ति एवं व्यक्तिगत स्व-प्रेरणा को अभिव्यक्ति प्रदान करने में सहायक होगी, जिसके द्वारा ही राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के प्रयत्नों को

विजयश्री मिल सकती है।

स्पष्ट आदर्श-प्रेरित जीवन-लक्ष्य के बिना राजनीति स्वार्थ-लोलुप महत्वाकांक्षियों की छल-कपट भरी द्यूत-क्रीड़ा बनकर रह जाती है।

इतिहास के सभी प्रबल युग-परिवर्तन आदर्श-परिपूर्ण जीवन-दर्शन के आधार पर हुए हैं। साम्यवाद की चुनौती भी तो सैद्धान्तिक ही है। आधुनिक मुस्लिम देशों पर छा जाने वाला 'मूलाधारवाद' (फंडामेंटलिज्म) भी इस्लामी जीवनदर्शन के आधार पर पुनर्निर्माण करने का लक्ष्य लेकर चला है। इसका प्रबल आघात ईरान आदि देशों में स्पष्ट देखा जा सकता है।

भारत में सर्वाधिक व्यापक राजनीतिक दल—कांग्रेस का कोई स्पष्ट, सुनिर्दिष्ट जीवन-दर्शन नहीं रहा। इसकी नीतियाँ और कार्यक्रम मात्र अल्पकालिक और समय-सापेक्ष रहते थे। उसने समाज को प्रेरणा के लिये आदर्श नहीं, नारे दिये। उसमें अति वाम-पंथियों से लेकर अति दक्षिण-पंथियों तक का सम्मिश्रण था। उसके काम करने की प्रणाली सिद्धान्त पर नहीं, समझौतों पर आश्रित थी। स्वाभाविक है कि इसने समाज के सभी क्षेत्रों में दुःस्थितियों को जन्म दिया।

दूसरी ओर, साम्यवादियों के पास एक सैद्धान्तिक प्रतिबद्धता है, एक जीवनादर्श का ढाँचा है। परन्तु वह सब इस राष्ट्र की अस्मिता और अभीष्ट जीवन-मूल्यों के प्रतिकूल है। इसी कारण वह एक क्षुद्र सी सीमा को छोड़कर कोटि-कोटि भारतीय जनता का विश्वास-संपादन नहीं कर सका और भारत-विजय का साम्यवादी स्वप्न मात्र मृग-मरीचिका बना हुआ है।

भारतीय जनसंघ ने राष्ट्र की पुनर्रचना के आधार के रूप में जीवन-दर्शन की अनिवार्यता की अनुभूति आरम्भ से की थी। इस आत्मज्ञान का परिणाम था 'एकात्म मानववाद'। यह हमारे शाश्वत जीवन-मूल्यों का युगानुकूल पुनरारूयान था। साम्यवादी और पूंजीवादी जीवन-दर्शन की चुनौती को यह भारतीय चेतना का उत्तर था। परन्तु इसके लिये व्यापक लोक-समर्थन जुटा पाने से पूर्व ही, परिस्थितियों के प्रवाह में, जनसंघ का पृथक अस्तित्व ही विलीन हो गया।

श्री जयप्रकाश नारायण की 'समग्र क्रान्ति' ने जीवन-दर्शन के इस अनुसंधान में नया आयाम जोड़ा है। इसने नवीन परिस्थिति में युगानुकूल संदर्भ के साथ गांधी जी के जीवन-मूल्यों पर फिर से राष्ट्र का ध्यान केन्द्रित किया है।

विकास के इन सभी सोपानों को दृष्टिगत करके और राष्ट्र के पुनरुत्थान में जीवनदर्शन का महत्व समझ कर, अब समय आ गया है कि हम उपर्युक्त उद्धरण के अनुसार अपने जीवन-दर्शन की निष्पत्ति करें।

कृपया उपर्युक्त सूत्रों पर अपने चिंतनसंभूत विचार संपादक—मंथन, ७ ई, स्वामी रामतीर्थ नगर, नयी दिल्ली—५५ के पते पर संप्रेषित करें।

सधन्यवाद,

भवदीय

पी० परमेश्वरन

ध्यातव्य—

एक बात स्पष्ट करना आवश्यक है कि इस 'मंथन' का लक्ष्य किसी अभूतपूर्व जीवनदर्शन का आविष्कार करना नहीं है। भारत में जीवनदर्शन का कभी अभाव नहीं रहा। हमारे ऋषियों ने शाश्वत और अपरिवर्तनीय सत्य के अधिष्ठान पर, मानव मात्र ही नहीं, संपूर्ण विश्व के लिये अन्यतम यथार्थ को खोज कर प्रस्तुत किया था। अनेक सामाजिक परिवर्तनों और इतिहास के युगान्तरों में उसका बारंबार युगानुकूल पुनराख्यान और पुनर्विवेचन होता रहा है तथा उसी के अनुसार सतत परिवर्तनशील समाज-व्यवस्था की रचना भी होती रही है। आज आवश्यकता है कि आधुनिक अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र की शब्दावली में नूतन परिवेश से समन्वित करके हम अपने शाश्वत जीवन-दर्शन का वर्तमान समस्याओं के निराकरण में प्रयोग करें। हमें विभिन्न क्षेत्रों में अपनी

समाज-रचना के आधारभूत सिद्धान्तों और कार्यपद्धति की मोटी-मोटी रूपरेखाओं को स्पष्ट रूप में अंकित करने का प्रयत्न करना चाहिए।

दूसरी ध्यातव्य बात यह है कि हम किसी राजनीतिक दल के लिये घोषणापत्र तैयार करने का प्रयत्न नहीं कर रहे हैं। कोई भी राजनीतिक दल अकेले राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का दायित्व वहन नहीं कर सकता। कोई भी सत्तारूढ़ दल क्यों न हो, उसे राष्ट्रीय चिति, राष्ट्रीय अस्मिता और लोक-चेतना का ध्यान रखकर ही नीतियाँ निर्धारित करनी होंगी, तभी उसे व्यापक लोक-समर्थन प्राप्त हो सकता है। विभिन्न दलों में अपने-अपने विशेष आग्रह या प्राथमिकताओं के संबंध में मतभेद रह सकता है, विस्तार-सूत्रों में भिन्नता रह सकती है, परन्तु यदि उनका दृष्टिकोण वास्तविक रूप में राष्ट्रीय है और वे यथार्थ में लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित हैं तो आधारभूत जीवन-दर्शन और शाश्वत राष्ट्रीय जीवन-मूल्यों के विषय में मतैक्य होना अनिवार्य है। हम जिस जीवन-दर्शन का विकास करने का प्रस्ताव रख रहे हैं, वह भी राष्ट्र-निर्माताओं और शिल्पियों के लिये साझे आधारपीठ और ज्योति-स्तम्भ के समान होगा।

●

गोविन्द शूगर मिल्स लिमिटेड

बिड़ला बिल्डिंग
९/१, राजेन्द्र नाथ मुखर्जी रोड,
कलकत्ता : ७००००१

स्थित मिलें :

ऐरा इस्टेट —२६२७२२
जिला : लखीमपुर-खीरी
(उ० प्र०)

एवम्

मोतीहारी शूगर फैक्ट्री
मोतीहारी : ८४५४०१
जिला : चम्पारण (बिहार)

गन्ने की विशुद्ध पारदर्शी चीनी के निर्माता

(समाचारपत्र-पंजीयक, भारत, नयी दिल्ली) पंजीयन-संख्या आर० एन०—३२४८६/७८

"तथाकथित पिछड़े वर्गों से भी अधिक पिछड़े लोगों की एक विशाल संख्या है, जिनसे वास्तविक भारत बना है—अधभूखे कंकाल, जीवित शव ! यदि भारत उनमें अन्न और प्राण की स्थापना करके उन्हें पुनर्जीवित कर सके तो वह सारे विश्व की सहायता करेगा। आज तो भारत एक अभिशाप है।" —महात्मा गांधी

"आर्थिक योजनाओं और आर्थिक प्रगति का माप समाज के ऊपर की सीढ़ी पर पहुँचे व्यक्ति से नहीं, बल्कि सबसे नीचे के स्तर पर विद्यमान व्यक्ति से होगा।" —पं० दीनदयाल उपाध्याय

"..... छोटा कृषक क्षरित है, उसके औजार मोटे-झोटे हैं, उसकी उत्पादकता न्यून है, वह वाणीविहीन है और अपने परिवार के साथ रोग, अशिक्षा एवं सीमित आशाओं से छिन्न जीवन जी रहा है।"
—डा० सकुमा, महानिदेशक एफ० ए० ओ०

दीनदयाल शोध संस्थान

घोषित करता है

मंथन का ग्रामीण पुनर्निर्माण-विशेषांक—१९८०

हिन्दी और अंग्रेजी संस्करण सितम्बर —१९८०

★ विशेष

१. सर्वांगीण ग्राम-विकास की अवधारणा
२. स्वान्त्योत्तर काल में ग्राम-विकास-कार्यक्रमों का आलोचनात्मक मूल्यांकन
३. ग्रामीण पुनर्निर्माण के लिये युवा शक्ति को प्रेरणा
४. स्वयंसेवी संस्थाओं के ग्राम-विकास सम्बन्धी अनुभव
५. आदर्श ग्राम

तथा

* ग्रामीण भारत का रंगीन, सम्यक निदर्शन
* विशेषज्ञों और अग्रगामी सामाजिक कार्यकर्ताओं द्वारा लिखित लेख
* दीनदयाल शोध संस्थान के अध्यक्ष नानाजी देशमुख द्वारा आरम्भ विशेष अभियान

● ये विशेषांक मंथन के नियमित अंकों से अतिरिक्त प्रकाशन हैं।
● मूल्य संस्थाओं के लिये ३०.०० रुपये तथा व्यक्तिगत प्रति २०.००रुपये

अधिक विवरणों के लिये लिखें या सम्पर्क करें :

प्रकाशन विभाग,
दीनदयाल शोध संस्थान,
७ ई, स्वामी रामतीर्थ नगर,
नयी दिल्ली—११००५५

दीनदयाल शोध संस्थान, नयी दिल्ली-११००५५ के लिये पी० परमेश्वरन (निदेशक, दी० शो०सं०) द्वारा सम्पादित, प्रकाशित व मुद्रित। सरस्वती प्रेस, देशबन्धु गुप्त मार्ग, नयी दिल्ली-११००५५ में मुद्रित।

१२.००
यन)
१२.००
२०.००
१२.००
१.५०
१.५०
50.00
15.00
12.00
2.00
3.50
2.00
1.75
aya
20.00
10.00
Paperback 5.00
De luxe 12.00
12.00

मंथन

दीनदयाल शोध संस्थान, नयी दिल्ली का त्रैमासिक पत्र

वर्ष ३ अंक १ श्रावण विक्रमाब्द २०३७ (जुलाई १९८०)

निर्मन्थ्यध्वमतन्द्रिता: (श्रीमद्भागवत ८-६-२३)
निरालस्य होकर मंथन करो

विषयानुक्रमणिका

देखा देखी सधै न जोग ५

नैतिक चेतना एवं आचरण
डा० केवलकृष्ण मित्तल ७

मध्ययुगीन मानव-मूल्य और तुलसीदास
डा० जगदीश्वरप्रसाद १३

संकल्प की प्रतीक—हेलन केलर
डा० वेदप्रकाश वर्मा १९

मध्ययुगीन संत्रास : सूर की भूमिका
डा० चन्द्रशेखर २७

औद्योगिक नगर तथा भारतीय नगरीकरण
डा० रामकृष्ण सारस्वत ३३

भारतीय वाङ्मय में कर्मविपाक, भाग्यवाद और पुरुषार्थ
सत्यपाल शर्मा ३७

राष्ट्रभाषा हिन्दी और लोकमान्य तिलक
अनिल समर्थ ५३

मनु की ऐतिहासिकता
देवीप्रसाद सिंह एवं
के० एन० मणि त्रिपाठी ५९

पुस्तक-समीक्षा ६८

संवाद ७०

धर्मसत्य और जीवनमूल्य २६, बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यम् ३२, मातृका-रहस्य ३८, संकल्प-सृष्टि ५८